राजनीति प्रवेशिका

(An Introduction to Politics)

मूल लेखक

हैरल्ड जे० लास्की

अनुवादक

परिपूर्णानन्द वर्म्मा

(प्रधान सम्पादक, दैनिक जागरण)

संशोधक

अम्बा दत्त पन्त

राजनीति विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

सेन्ट्रल बुक डिपो

इलाहाबाद

१९५५]

[मूल्य २

प्रकाशक का वक्तव्य

हमने कुछ वर्ष पूर्व प्रो० लास्की के Introduction to Politics का श्री परिपूर्णानन्द वर्मा द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया था। परन्तु अंग्रेजी भाषा में इस पुस्तक का नवीन संस्करण प्रकाशित होने के कारण इस अनुवाद में अनेक स्थलों पर परिवर्तन तथा संशोधन की आवश्यकता हो गई थी। इस कार्य को श्री अम्बा दत्त पन्त, राजनीति विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय ने सम्पादित किया है।

प्रकाशक

विषय-सूची

राजनीति प्रवेशिका

प्रथम अध्याय

राज्य की प्रकृति

I

आधुनिक संसार में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी राज्य की प्रजा है। वह विधितः उसकी आज्ञापालन के लिए बाध्य है तथा उसके जीवन की रूप-रेखा राज्य द्वारा निर्देशित आदर्शों के अनुरूप ही निश्चित होती है। ये आदर्श ही विधि हैं तथा इसी शक्ति में राज्य का सार निहित है कि अपनी सीमा-क्षेत्र के अन्तर्गत समस्त वासियों पर वह उन्हें प्रवर्तित कर सकता है। क्योंकि अन्य समस्त संघों का रूप ऐच्छिक है और वे किसी व्यक्ति को केवल तभी तक अपने नियम-पालन के लिए बाध्य कर सकते हैं जब तक वह उनका सदस्य रहता है, परन्तु ज्यों ही वह किसी राज्य का निवासी हो जाता है, इसकी आज्ञापालन के अतिरिक्त अन्य कोई विधि-संगत मार्ग उसके लिए नहीं रह जाता।

अन्य सभी संघों की तुलना में व्यक्ति के ऊपर राज्य का अधिकार कानूनन कहीं अधिक होता है। तात्पय यह है कि आधुनिक सामाजिक संगठन का सिरमौर राज्य है। समाज के प्रत्येक समुदाय पर इसका प्रभुत्व और अधिकार रहता है और इस अधिकार के रखने में ही राज्य की विशेषता है।

अतः स्पष्ट है कि मानव आचरण को नियंत्रण में रखने के लिये एक प्रणाली बन गयी है और उसी प्रणाली का नाम राज्य है। राज्य

के स्वरूप का जितना भी विश्लेषण किया जाय, यही प्रकट होगा कि यह एक प्रणाली मात्र है जिसके द्वारा मानव जीवन को नियंत्रण में रखने के लिए आचार-व्यवहार के कुछ सिद्धान्त लागू कर दिये जाते हैं। राज्य आज्ञा देता है कि चोरी मत करो और आज्ञा न मानने पर यह दंड देगा। वह आवश्यक कर्तव्यों का समादेश देता है और उनके पालन के लिये शक्ति का उपयोग करता है। राज्य की दृष्टि में उन समादेशों की वैधता स्वतः सिद्ध है। ये उचित, अच्छे या बुद्धिमतापूर्ण हों या न हों पर राज्य के समादेश हैं, इसलिये वैध हैं। मनुष्य किस परिस्थिति में कैसे काम करे, इसका अन्तिम निर्णय राज्य ही कर सकता है। इस निर्णय के वैधानिक रूप को ही राज्य द्वारा निर्दिष्ट "आवश्यक कर्तव्य" कहते हैं।

परन्तु ये वैध-समादेश न स्व-निर्मित हैं और न स्व-प्रवर्तित। किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के संकल्प से इनका जन्म होता है तथा किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह द्वारा ही ये प्रवर्त्तित होते हैं।

आज के राज्यों की परीक्षा कीजिये तो सर्वत्र यही दृश्य देख पड़ेगा कि राज्य की निर्धारित सीमा के भीतर मुट्ठी भर आदमियों का हुक्म शेष जनसमूह मान रहा है। यह भी पता चलेगा कि इन थोड़े से आदमियों द्वारा बनाये नियम चाहे वे ग्रेट-ब्रिटेन में "नरेश-सहित-पार्लमेन्ट" में बनने के कारण सर्व-योग्य कहलायें या संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति उनका विषय और अधिकार-क्षेत्र सीमित रहता हो, पर इनका लेशमात्र भी उल्लंघन होने पर, वे मुट्ठी भर आदमी राज्य की समूची शक्ति का उपयोग कर अपने अधिकार को प्रतिपादित कर सकते हैं। संक्षेप में, प्रत्येक राज्य शासन तथा प्रजा में विभक्त एक प्रादेशिक समुदाय है। राज्य में व्यक्तियों का एक समूह होता है जो उन वैध परमादेशों को लागू करता है जिन पर राज्य स्थित रहता है। यह समूह ही सरकार कहलाता है। इस प्रादे-

शिक समुदाय के अन्तर्गत केवल इसी समूह को अपने आदेशों के पालन के लिए शक्ति उपयोग करने का अधिकार है।

ध्यान रहे कि प्रत्येक राज्य में एक ऐसा "संकल्प" होता है जो अन्य सभी संकल्पों के ऊपर वैधानिक प्राधान्य रखता है। इसी के द्वारा समाज के अन्तिम निश्चय प्राप्त होते हैं। पारिभाषिक शब्दों में इसे प्रभु-संकल्प कहते हैं। कोई अन्य संकल्प या इच्छा इसे आदेश नहीं दे सकती। अन्ततः यह अपने अधिकार से पृथक नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए, ग्रेट-ब्रिटेन में "पार्लामेंन्ट-सहित-नरेश" का संकल्प ऐसा ही प्रभु-संकल्प है। अपने देश की सीमा के भीतर, वह जो कुछ निर्णय करेगो, वह उस राज्य के भीतर समस्त रहने वालों पर बाध्य होगा। वे उसके निर्णय को अनैतिक या बुद्धि-रहित मान सकते हैं, फिर भी कानूनन उसे मानने के लिये विवश हैं। कोई ब्रिटिश प्रजा जिस गिरजा मंदिर (सम्प्रदाय) से संबंध रखता है, उससे मतभेद हो जाने के कारण उसे छोड़ सकता है। सम्प्रदाय या गिर्जा उसे अपने निर्णयों को मानने के लिये बाध्य नहीं कर सकता है किन्तु, वही बिटिश-प्रजा यदि अपने सरकार के आय-कर संबंधी नियमों को न भी पसंद करे, तब भी कानूनन उन्हें मानने के लिए विवश है। यदि उसने इन नियमों के प्रभाव को मानना अस्वीकार कर दिया तो उसे अनिवार्यतः मनाया जावेगा और किसी न किसी रूप में इसका परिणाम भोगना होगा।

अतः यह भी कह सकते हैं कि राज्य उन व्यक्तियों का समुदाय है जिन्हें यदि आवश्यक हुआ तो शक्ति-प्रयोग द्वारा जीवन की एक निश्चित प्रणाली के अधीन कर लिया गया है। उस समाज में हरेक आचरण उस प्रणाली के अनुकूल होना चाहिये। समाज के स्वरूप को निर्धारित करने वाले नियमों को ही राज्य की विधि कहते हैं। अतः तर्क से यह भी स्पष्ट है कि उनकी प्रमुखता अवश्यम्भावी है, अर्थात् ये अन्य सब नियमों के प्रभु हैं। इस समाज में जो व्यक्ति इन नियमों का

निर्माण करते हैं तथा उनको प्रवर्त्तित करते हैं शासन कहलाते हैं, और इन नियमों का वह अंश जो यह निश्चय करता है कि (१) इन नियमों को कैसे बनाया जाय, (२) किस तरह इनमें परिवर्तन किया जाय और (३) इन्हें कौन बनाये, वही राज्य का संविधान कहलाता है।

II

ऊपर राज्य की शुद्ध वैधानिक व्याख्या ही की गयी है। बिना यह बतलाए हुए कि कैसे वर्तमान प्रणाली का विकास हुआ, इससे क्या लाभ होता है, इसके कार्य के साथ क्या गुणदोष मिले हैं, हमने केवल यही वर्णन किया है कि किस प्रकार आधुनिक समुदाय में सामाजिक संबंधों का नियंत्रण किया गया है।

यह स्पष्ट है कि यह सब जानना बहुत आवश्यक है। आज के राज्य की रूपरेखा अपने उस इतिहास का परिणाम है जिस मार्ग से वह विकसित हुआ है। बिना उस इतिहास के जाने राज्य नहीं समझ आवेगा। किसी राज्य की शक्ति का शून्य में उपयोग नहीं होता है। निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इसका उपयोग होता है। जिस समय जिसके हाथ में राज्य की शक्ति का उपयोग करने का वैध-अधिकार होता है वह जिन उद्देश्यों को लाभदायक समझता है, उन्हें प्राप्त करने के लिये राज्य के विधि-विधानों में अन्तर करता रहता है। इस प्रकार के बने राज्य में क्या गुण हैं और क्या भय, इसका निर्णय हम तभी कर सकेंगे जब हम उसके उद्देश्यों और उनकी पूर्त्ति से लिए किए गए उपायों के औचित्य आदि के संबंध में अपना विचार निश्चित कर लें।

राज्य के इतिहास को बतलाने का मैं यहाँ उपक्रम नहीं करूँगा।

यहाँ पर केवल इतना ही जोर देना पर्याप्त होगा कि ऐतिहासिक घटनाओं की एक लम्बी श्रृंखला के परिणाम स्वरूप राज्य को "संप्रभु" संस्था का रूप प्राप्त हुआ है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण घटना योरोपीय इतिहास के सुधार युग (Reformation) की है जब एक ऐसे संगठन की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसे अधिकार का पूरा दावा हो और जिसके द्वारा अन्तिम निर्णय प्राप्त किए जा सकें। अन्य सभी तत्कालीन संस्थाओं के ऊपर राज्य का प्राधान्य इसलिए हुआ क्योंकि उस समय उसके समान व्यवस्था तथा शान्ति स्थापित करन का दावा और कोई नहीं कर सकता था। धार्मिक विश्वासों की अनेकता द्वारा उत्पन्न अराजकता केवल संघर्ष ही पैदा कर रही थी। आर्थिक संगठन अत्यन्त स्थानीय तथा संकुचित होने के कारण सार्वजनिक व्यवस्था की स्थापना में असमर्थ थे। राज्य ही एकमात्र ऐसी संस्था के रूप में प्रकटित हुआ जिसमें ऐसे वैध-परमादेशों को प्रवर्त्तित करने की क्षमता थी जिनका जन-समूह आदर करते। यह जीवन को इसलिए व्यवस्थित कर सका कि बिना इसके आदेश के, कोई व्यवस्था सम्भव नहीं थी। राज्य की प्रतिस्पर्द्धी अन्य संस्थायें भी थीं जो लोगों को अपना अनुवर्ती बना लेने के लिए पूर्णरूपेण प्रयत्नशील थीं। परन्तु राज्य इन सब पर इसलिए विजयी हुआ कि मनुष्य को अपने संकल्प के अधीन कर लेने की उसमें स्वाभाविक योग्यता थी।

राज्य अपना संकल्प लागू करने में क्यों समर्थ हुआ ? यह समझने के लिए उसकी शुद्ध वैधानिक रचना का विचार छोड़कर दार्शनिक समीक्षा करनी होगी। यहाँ स्पष्टतः दो भिन्न दृष्टिकोण से विचार करना होगा। यह समझना होगा कि सधारणतः राज्य का क्या काम है, समय-समय पर उसके द्वारा लागू किए गए अनुशासनों की कैसे मीमांसा की जाये ? ये वैध परमादेश साधारणतः कैसे हों, यह समझने के लिए हमको एक आधार या मापदण्ड खोजना होगा।

किसी राज्य के स्वभाव को एक शब्द में ही कैसे जान लिया जाता है, जैसे उदाहरणार्थ "फ्रांस का प्राचीन शासन ? हम किस प्रकार इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि प्राचीन शासन के समय का फ्रेंच राज्य उस काम को पूरा करने अयोग्य था जिसके लिए वास्तव राज्य की सत्ता है ?

राज्य से जिन कर्तव्यों को पूरा करने की माँग की जाती है उन्हें निभाने की उसमें जो क्षमता है, उसी को उसका अधिकार कहते हैं। उदाहरण के लिए उसकी प्रजा यह इच्छा करती है कि उसके प्राण और सम्पति की रक्षा हो। तब राज्य इस इच्छा को पूरी करने के लिए अपने वैध अनुशासन जारी करता है। उसकी प्रजा अपने ढंग से ईश्वर की पूजा करना चाहती है, वह यह नहीं चाहता कि किसी प्रकार के धार्मिक विचारों के बारे में कोई रुकावट हो। यदि इस माँग का विरोध नहीं होता तो राज्य धार्मिक सहिष्णुता को वैध परमादेश बना देता है। फांस की राज्यक्रांति केवल इसलिए हुई कि वहाँ की प्राचीन शासन व्यवस्था में जो वैध आदेश थे, उनके कारण राज्य के सदस्य जो माँगे पेश करते थे, उनको पूरा करना असंभव था।

इस प्रकार प्रजा की माँग के द्वारा ही वैध-परमादेश तैयार होते हैं। राजनीतिक शक्ति के केन्द्र को अपनी इच्छाओं से जो प्रभावित कर सकते हैं उन्हीं को इच्छा अथवा कामना के अनुसार यह आवश्यक कर्त्तव्य या परमादेश बनते हैं। इन इच्छाओं को पूरी करने की चेष्टा में ही उस राज्य की विधियाँ बनती हैं। और इनका गुण उन इच्छाओं की पूर्ति की मात्रा पर निर्भर करेगा। राज्य के सामने उसके सदस्यों के समूहों की प्रतिद्वन्दी इच्छाओं का ढेर रहता है। उनमें से कुछ को चुनकर वह "आवश्यक कर्तव्यों का वैधानिक आवरण" पहना देता है। कौन सी इच्छा मानी जाय, इसका सिद्धांत एक ही ढ़ंग से तय नहीं होता। काल तथा स्थान के अनुसार इसका निश्चय होता रहता,

है। पश्चिमी सभ्यता में हम किसी राज्य की कल्पना भी नहीं कर सकते जो राष्ट्रीय शिक्षा की प्रणाली चलाने के लिए अपने सदस्यों से कर न वसूल करता हो। फिर भी हम देखते हैं कि डेढ़ सौ वर्ष पहले यह विचार कल्पना के परे था कि कोई राज्य ऐसे काम में धन देने के लिए अपने सदस्यों को विवश करे। पहले जो माँग प्रभावशून्य थी, समय पाकर अब उसे कोई रोक नहीं सकता।

ऐसा क्यों है ? प्रकट है कि जिनके हाथ में राज्य का अधिकार है उन्होंने इसे आवश्यक, बुद्धिमत्तापूर्ण या उचित समझा कि राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की माँग को स्वीकार कर लें। किन्तु हमें यह भी पता लगाना है कि ऐसी मांगें किसी काल अथवा स्थान विशेष पर किस प्रकार प्रभावशालिनी हो जाती हैं। स्पष्टतः इसका उत्तर यह नहीं हो सकता कि माँग उचित थी, प्रायः राज्य ऐसी माँगों को ठुकरा देता है जो युक्तियुत होती हैं और ऐसी माँगें स्वीकार कर लेता है जो देखने में कभी भी युक्तियुत नहीं कही जा सकतीं। पूरी की हुई माँग की तह में बुद्धमानी का होना आवश्यक नहीं है क्योंकि राज्य-नेता हमेशा बुद्धिमानी से काम नहीं किया करते। आवश्यकता अधिक स्पष्ट कारण मालूम होती है। लेकिन, तब हमारे लिए यह जानना जरूरी हो जाता है कि किसी खास काल या स्थान पर क्यों राज्य किसी एक माँग को आवश्यक समझता है और दूसरी को नहीं ?

निस्संदेह, जिन उद्देश्यों से राज्य-नेता ऐसे अवसरों पर काम करते हैं, वे इतने उलझे हुए होते हैं कि आसानी से नहीं समझाये जा सकते। अनेक कारणों से ऐसा होता है—इसका एक कोई कारण नहीं है। फिर भी, साधारणतः यह मान लेना चाहिए कि किसी एक राज्य का रूप उसके अधीन समाज में प्रचलित आर्थिक व्यवस्था का ही एक प्रकार्य होगा। हर प्रकार के समाज में आर्थिक शक्ति पर अधिकार या नियंत्रण के लिए संघर्ष होता है, इसलिए कि

जिनके हाथ में यह शक्ति है, वे उस शक्ति के अनुसार अपनी माँगें प्रभावी करते हैं। ऐसी दशा में, इन माँगों को वैध बनाने वाली विधि ही कानून है। जिस समय या स्थान पर आर्थिक शक्ति जिस प्रकार बँटी हुई होगी, उसी प्रकार उस समय तथा स्थान पर कानूनी आदेश अथवा आवश्यक कर्त्तव्य लागू किए जायँगे। ऐसी परिस्थितियों में राज्य, आर्थिक व्यवस्था पर जिनका अधिकार होता है उन्हीं की माँगों को व्यक्त करता है। कानूनी व्यवस्था केवल एक अवगुण्ठन है जिसके पीछे शक्तिशाली आर्थिक स्वार्थ राजनीतिक अधिकार का लाभ उठाता है। राज्य, अपने कार्य में, जानबूझ कर सर्वसाधारण के प्रति न्याय या कल्याण की खोज नहीं करता बल्कि व्यापक रूप में समाज के शक्तिशाली वर्ग के स्वार्थों का प्रतिपादन करता है।

ऊपर लिखी बात से हमारा जो तात्पर्य है और हम जो समझाना चाहते हैं उससे अधिक अर्थ निकालने की असावधानी हमें नहीं करनी चाहिए। हमने केवल राज्य की सामान्य प्रवृत्ति बतलायी है। उसके कामों के विस्तार को नहीं समझाया गया ह। साधारणतः तर्क यह किया गया है कि जिसके पास सम्पति होती है, उन्हीं को विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं और जिनके कोई सम्पति नहीं होती वे इनसे वंचित रहत हैं। इसी से यह भी मालूम होता है कि किसी समाज में स्वामित्व का संतुलन जिस प्रकार बदलता है उसी प्रकार राज्य के कार्य का संतुलन भी बदलता रहेगा। यह सही है कि इस प्रकार का परिवर्त्तन शायद ही कभी तुरन्त होता हो और पूरी तौर से तो कभी भी नहीं होता। ऐतिहासिक गतिविधि में समय की ऐसी ठेस लगती रहती है कि हर प्रकार के परिवर्त्तन आंशिक होते ह। ऐसी बहुत कम वर्ग होंगे जो अधिकार पाकर चरम सीमा तक उसका उपयोग करें। नए

साम्य के प्रति अपने विरोधियों की स्वीकृति उन्हें खरीदनी पड़ती है। अधिकार पाने के बाद ऐसा अवसर कम न होगा जब कि वे यह न महसूस करें कि उन्हें असली संतोष तभी मिलेगा जब कि अपने से अलग लोगों को भी मिला लिया जाय। अपने विरोधी के अधिकार के समय अपने अलग रखे जाने के कष्ट का वे अनुभव कर चुके होते हैं। इसीलिए नए साम्य में उन्हे सबकी सहमति उचित मालूम पड़ती है। किन्तु किसी राज्य के कानूनों का अध्ययन करने पर हरेक को मालूम हो जायगा कि राज्य के नाम पर काम करने वाले वर्ग की माँगों का ही उनसे संबंध है। इंगलैन्ड में श्रमिक संघ के कानून का, अमेरिका में साझेदारी की स्वतन्त्रता का, प्रशा के कृषि सम्बंधी कानून का इतिहास, ये सब इस बात के उदाहरण हैं कि आर्थिक व्यवस्था पर जिस वर्ग का अधिकार था, उसने अपने हितों की रक्षा के लिए राज्य से वैसा कानूनी अनुशासन जारी करवा दिया।

हम यह नहीं कहते कि शासक वर्ग में न्याय तथा उचित रूप से काम करने की इच्छा ही नहीं होती। किन्तु, भिन्न प्रकार से रहने वाले आदमी की विचारधारा भी भिन्न होती है। इसलिए जब कोई वर्ग समुदाय के हित में आवश्यक कानूनी कर्त्तव्यों के निर्धारित करने की समस्या पर विचार करता है तो उसके मन के भीतर जो अर्द्ध-चेतन विचार बैठा रहता है, वास्तव में उसी के अनुकूल वह न्याय तथा अच्छाई-बुराई के सम्बन्ध में निश्चय कर पाता है। अमीर आदमी सुख को खरीदने में सम्पत्ति की शक्ति का पूरा अनुमान कभी नहीं लगा पाता। धार्मिक व्यक्ति नैतिकता के ऊपर धार्मिक विश्वास के प्रभाव का आवश्यकता से अधिक अनुमान करते है। विद्वान् व्यक्ति पांडित्य और बुद्धिमता का आवश्यकता से अधिक सम्बन्ध समझ लेते हैं। हमारे अनुभव हमको

बंदी बना लेते हैं और चूँकि हमारे अनुभवों का मुख्य भाग रोटी चलाने के प्रयत्नों से प्राप्त होता है, इसलिए जिस प्रकार हम अपनी जीविका चलाते हैं उसी के द्वारा उचित और अनुचित के सम्बन्ध में हमारे पक्के विचार बन जाते हैं। जॉन ब्राइट फैक्ट्री कानूनों के महत्व को इसलिए कभी न समझ सका कि स्वयं स्वामी होने के कारण उसके जीवन के तीव्र अनुभव उनके विपरीत थे। लॉर्ड शाफ्ट्स-बेरी जैसा जमींदार जो कल कारखाने-सम्बन्धी कानून के मौलिक न्याय को आसानी से समझ गया, यह कभी न समझ सका कि कृषि-श्रमिकों की दशा को सुधारने के लिए भी कुछ करना चाहिए। अमेरिकन संघ के कई राज्यों में दासों के स्वामी पूरी सच्चाई के साथ यह विश्वास करते थे कि दास-प्रथा गुलामों के ही हित में है।

कभी यह भी कहा जाता है कि यह सिद्धान्त उसी समुदाय के ऊपर लागू हो सकती है जहाँ सत्ता का रूप कुलीनतंत्रीय है। उदाहरणार्थ, यदि इंगलैन्ड में मताधिकार केवल मध्यम वर्ग तक ही सीमित है उसी के अनुरूप स्वभावतः विधान बनेगा। किन्तु, जिस राज्य में प्रजातन्त्र है और व्यापक मताधिकार है तथा राज्य के शासक जनसमुदाय द्वारा चुने जाते हैं वहाँ यह सिद्धान्त लागू नहीं होता कि सम्पत्ति की शक्ति ही राज्य-रूप को निश्चित करती है।

यह तर्क जितना ठोस मालूम होता है, वैसा नहीं है। यह सही है कि सामान्यतः प्रजातंत्रीय राज्य कुलीनतंत्रीय राज्य की तुलना में, जनसमूह के प्रति अधिक उदार होगा। इंगलैण्ड के उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दि के कानूनों में अन्तर इसे सिद्ध करता है। पर यह अन्तर इस विषय के मूल को नहीं स्पष्ट करता। शक्ति के उपयोग की आदत उस शक्ति को रखने की चेतना पर निर्भर करती है और यह आदत उसके संगठन में और तुरन्त उपयोग में लाने की योग्यता से पैदा होती है। प्रजातन्त्रीय राज्य में, जहाँ आर्थिक शक्ति

में बड़ी असमानता होती है, गरीबों में यह विशेषता पाई जाती है कि उनमें इसी आदत की कमी होती है। वे यह जानते ही नहीं कि उनमें क्या शक्ति है। वे यह शायद ही समझते हैं कि अपने हितों का संगठन करके वे क्या कर सकते हैं। अपने शासकों के पास उनकी सीधी पहुँच नहीं होती। प्रजातन्त्रीय राज्य में भी मजदूर वर्ग अगर कोई काम करे तो निश्चित लाभ के अनुपात में उसकी आर्थिक सुरक्षा के लिए भय ही अधिक रहता है। अपनी माँगों की पूर्ति के लिए उन्हें साधन का प्राय: अभाव ही रहता है। बिरले ही सीख पाते हैं कि कैसे माँगें बनाई जाँय और फिर उनके लिए लड़ा जाय। दूसरों पर हुक्म चलाने की आदत से जो आत्मविश्वास पैदा होता है, उसका उन्हें अनुभव नहीं होता। सदा से दूसरों का हुक्म मानते चले आने से उनमें हीनता का भाव पदा हो जाता है। परम्परागत संस्थाओं तथा समाज के अनिवार्य आधारों के मध्य भेद देखने में वे असमर्थ रहते हैं। वस्तुत: इस आशा का प्रत्यक्ष कारण है कि सर्व-मताधिकार पर आधारित राज्य जनता को अन्य किसी प्रकार के राज्य की अपेक्षा अधिक रियायतें प्रदान करेगा। परन्तु ऐसा कोई ऐतिहासिक कारण नहीं है जिससे यह मान लिया जाय कि ऐसा राज्य अपने आप प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक असमानता-जन्य सामाजिक परिणामों को पूर्णतः बदल देगा।

निष्कर्ष यह निकला कि किसी राज्य द्वारा नियंत्रित समाज में जिस ढंग से आर्थिक अधिकार वितरित होगा, उसी के अनुसार उससे जैसी माँग की जायगी वैसा ही वहाँ वैध-परमादेशों का रूप होगा। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जिस राज्य में आर्थिक बँटवारा जितना अधिक समान होगा वहाँ राज्य के कानूनी आदेश उतने अधिक जन साधारण के लिए हितकर होंगे। स्पष्ट है कि आर्थिक बँटवारा जितना अधिक समान होगा, उतनी अधिक

क्रियाशील माँगों में समानता होगी। उस समय राज्य का संकल्प किसी एक वर्ग के लिए पक्षपातपूर्ण नहीं होगा। यदि राज्य माँगों को पूरा करने वाली संस्था है तो उसके शासन में जनता के अधिकारों में जितनी समानता होगी, उतनी ही सम्पूर्णता के साथ वह जनसमूह की इच्छा पूरी कर सकेगा।

कम से कम, इतिहास का ऐसा ही अनुभव है। अभिजाततंत्रीय राज्य बहुत समय तक के लिए केवल इसलिए चल सके कि उनके अधीन जो समुदाय अधिकार-हीन था, उसमें से बहुत कम लोगों को राज्य की नींव को हिला देने की अपनी शक्ति का ज्ञान था और इस तुच्छ संख्या के कारण ही वे प्रभाव-शून्य थे। और, ये अभि-जाततंत्रीय राज्य समाप्त इसलिए हुए कि वस्तु के उत्पादन की रीति में ऐसा परिवर्तन हो गया जिससे नयी योजना में, उत्पादन के काम में जिनका महत्वपूर्ण भाग था, वे राज्य के परमादेशों की सीमा को अपने लिए लाभदायक रूप दिला सकने में समर्थ हुए।

उपर्लिखित वर्णन के बाद हम यह निर्णय कर सकते हैं कि राज्य को शुद्ध कानूनी व्यवस्था कहने का क्या तात्पर्य है। इस दृष्टि से वैधानिक क्षेत्र के बाहर इसके औचित्य के विषय में हम कुछ नहीं जानते। जिस समय जिस राज्य में जो शक्तियाँ काम करती हैं उन्हीं के अनुसार उस राज्य की तात्कालिक स्थिति बन जाती है और और इन्हीं के समानान्तर उनके कानूनी आदेश उस समय बनते और शक्तियों में परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं। उसके कानून वैध इसलिए हैं कि किसी निश्चित समय में वे लागू किए जा सकते ह। एक बार उन कानूनों को उनके वास्तविक आधार के अलावा अन्य कारणों से वैध साबित करने की चेष्टा की जाय तो हमको कानून के क्षेत्र से निकल कर अन्य क्षेत्रों की शरण लेनी पड़ेगी। कांग्रस (संयुक्त राज्य अमेरिका की व्यवस्थापक महासभा) या

पार्लियामेंट (इंगलैंड की व्यवस्थापक महासभा) की किसी व्यवस्था को कानूनी क्षेत्र में इसलिए मानने को कहा जाता है कि वह कांग्रेस या पार्लियामेंट की व्यवस्था है। यदि वह इस आधार पर लोगों की स्वीकृति चाहे कि यह बुद्धिमत्तापूर्ण या उचित नियम है तो जिस स्रोत से वह निसृत है, वही अप्रासंगिक हो जायगा, क्योंकि ऐसी दशा में यह व्यवस्था अपनी उपयोगिता के सिद्धान्त को लेकर हमारे सामने आती है और तब इसके गुण-दोष का निर्णय कानून के दायरे के बाहर की चीज हो जाता है।

III

अब यहाँ पर राज्य की दार्शनिकता का दूसरा पहलू हमारे सामने आता है जिसका हम ऊपर भी उल्लेख कर चुके हैं। हमने यह बतलाया है कि राज्य वैधानिक दृष्टि से "आवश्यक कर्तव्यों" के ऐसे आदेशों की योजना है जिन्हें उसके नाम पर कुछ लोग प्रवर्त्तित करते हैं और इन्हीं कुछ व्यक्तियों के समुच्चय को शासन कहते हैं। हमने यह भी देख लिया है कि यह आदेश विधि मूलतः आर्थिक योजना से पैदा होती है। जिस समय जो आर्थिक योजना अपनी माँग को समाज में प्रभावशाली बना सकी, उसी के अनुकूल आदेश लागू होंगे। पर, इस बात से हमें केवल वस्तुस्थिति मालूम होती है। इससे यह प्रकट होता है कि राज्य विशेष प्रकार के कानून क्यों बनाता है। इससे यह नहीं मालूम होता है कि राज्य के विधान का क्या गुण होना चाहिए।

पर, मैं यदि यह पूछूँ कि मुझसे यह क्यों आशा की जाती है कि मैं राज्य की आज्ञा का पालन करूँगा तो इतना ही कह देना पर्याप्त न होगा कि केवल इसलिए कि वह राज्य की आज्ञा है, मुझे उसका पालन करना चाहिए। मैं पूछूँगा, और लोग पहिले भी यह पूछते आये हैं, कि राज्य के आदेशों का मानना क्यों उचित है और यदि वे

आदेश ऐसे हैं जो हमारे विचार, भाव तथा आशाओं के विपरीत हैं तो क्यों न पहले के लोगों की तरह मैं भी उन आज्ञाओं को मानना अस्वीकार करने के अतिरिक्त अपने सामने कोई दूसरा उपाय न समझूँ।

अत: राज्याज्ञाओं को, राज्य की इच्छा में उनका स्रोत है, इसके अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर अपना औचित्य सिद्ध करना होगा। उनकी उत्पत्ति से यह ज्ञात होता है कि उनका स्रोत क्या है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि सामान्यत: अपना पालन करवाने के लिए बल प्रयोग का अधिकार भी उनके पास है। पर इससे अधिक यह सिद्धान्त कुछ नहीं बतलाता। इनसे यह नहीं पता चलता कि इन आज्ञाओं को प्रचलित करके राज्य ने उचित किया। इसलिए राज्य के नियम या कानून तब तक न्यायसंगत न होंगे जब तक हम विधि की उपर्लिखित मोटी व्याख्या के ऊपर न उठें। हमें तो यह पता लगाना है कि नियम किस लिए बने, यह किन उद्देश्यों की पूर्ति का दम भरते हैं और क्यों कानून ऐसा चाहते हैं कि उनका और हमारा लक्ष्य एक हो। जब तक इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता हम राज्य का ऐसा सिद्धान्त नहीं बना सकते जो कि राजनैतिक दर्शन के उद्देश्य के लिए पर्याप्त समझा जाय। अतएव, मनुष्य को विधि-पालन की सलाह देने के पहले कानून का अन्तिम उद्देश्य बतलाना होगा।

विधि के अन्तिम उद्देश्य के सम्बन्ध में वैसे ही भिन्न मत हैं जैसे मानव जाति के ऐतिहासिक अनुभव। किन्तु, यह लाभदायक होगा कि हम उन कतिपय महत्त्वपूर्ण भावनाओं को समझ लें जिनसे यह मालूम होगा कि मनुष्य उन संस्थाओं के संगठन में रहने की योजना को क्यों उचित समझने लगा जिनमें वह रहता आया है। मानव जाति के प्रारंम्भिक अनुभवों में, सामान्यत: जो विचार बने वे धार्मिक कहे जा सकते हैं। देवता या देवतागण अपने आधीन रहने वालों को जो

दैवी नियम प्रदान करते हैं—वही नियम कानून हैं। इनको इसलिए मानना चाहिए कि वे दैवी प्रेरणा से बने हैं। हजरत मूसा के कानून या हम्मुराबी की संहिता जिसे उसने सूर्य देवता से स विस्तार प्राप्त किया था इस प्रकार के उदाहरण हैं। आदमियों से कहा जाता है कि इन आज्ञाओं को मानो वरना इसका उल्लंघन करने पर दैवी कोप भोगना पड़ेगा। ऐसे नियमों की एक दूसरी सूरत भी होती है। कुछ प्राचीन रीति-रिवाज जो सम्भवतः लिखे हुए नहीं पाए जाते, पर परम्परा से पुरोहितों-पुजारियों द्वारा सुरक्षित चले आते हैं, इस भय से पालन किया जाते हैं कि उनका अनादर करने पर भगवान का कोप बरस पड़ेगा।

ये बातें मानव जाति के प्रारम्भिक इतिहास के समय की हैं। सभ्यता जब कुछ अधिक अनुभवी हुई तो, उदाहरण के लिए रोम की न्याय प्रणाली में, विधि के पालन की इसलिए सलाह दी गई कि उसके सिद्धान्तों की उत्पत्ति वस्तुओं की परम-प्रकृति से हुई है। इसलिए मनुष्यों का आचरण उनके अनुरूप होना चाहिए, इसीलिए मनुष्य को उनके अनुसार आचरण करना चाहिए। टॉमस एक्विनास का भी ऐसा ही दृष्टिकोण है। उनके अनुसार विधि एक दर्पण है जिसमें वह दैवी विवेक प्रतिबिम्बित होता है जिससे विश्व की योजना बनी तथा इसका नियंत्रण होता है। उसका पालन करने में, जैसा कि करना चाहिए, मानव अपने आचरण को दैवी योजना के अनुरूप बना लेता है और इसी अनुरूपता पर विश्व की सद्व्यवस्थित सत्ता निर्भर करती है। इसी प्रकार का मत कान्ट का भी है। उनके अनुसार विधि नैतिक आदेशों की रीति मात्र है जिनका पालन करने से व्यक्ति अपनी उच्चतम स्वतन्त्रता को जोअन्य व्यक्तियों की समान स्वतन्त्रता से असंगत नहीं, प्राप्त कर सकता है। इसी विचार को हेगेल ने सांसारिक ज्ञान के अनुकूल रूप यह कहकर दिया है कि इतिहास

की गति ऐसी है कि अनवरत अधिकतम स्वतन्त्रता खुलती जाती है और इसकी प्राप्ति राज्य के क्रमागत विकास द्वारा होती है।

इन सभी ऊपर लिखे सिद्धान्तों की एक विशेषता है—वे विधि की सत्ता को मनुष्य के नियंत्रण के बाहर की चीज बना देते हैं चाहे ईश्वर का डर हो या विश्व की अन्तर्निहित योजना की पूर्ति हो, या वृद्धिशील स्वतंत्रता की प्राप्ति हो। वे आदमी की ऐसी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते जिसके निज के संचित अनुभवों से, अपनी जानकारी और इच्छानुसार कानून बने हों। इन नियमों का तत्व उसे अपने से बाहर से प्राप्त करना होगा। उसकी अच्छाई इसी में समझी जाती है कि वह उन नियमों के अनुकूल काम करे जिन्हें बनाने में उसका कोई हाथ नही था। उसे नियम रूपी उपदेशों को ऐसी व्यवस्था माननी पड़ती है जिनका भार विश्व की गति के अनिवार्य परिणाम के रूप में उस पर लाद दिया जाता है और यदि वह इनसे भागता है तो उसका जीवन उद्धार ही खतरे में पड़ जाता है।

स्पष्ट है कि इन सिद्धान्तों से काम नहीं चल सकता। ऐतिहासिक खोज ने धार्मिक अधिकारों के दावे पर चलने वाली हरेक प्रणाली की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। उसने जिस ईश्वर का पता लगाया है वह ऐसी रहस्य भरी भाषा में बात करता है जिसका जादू केवल उसके स्वत: नियुक्त वक्ताओं पर चलता है। ऐसे लोग विश्व की गति का एक तर्क अनुमान कर लेते हैं और उसे प्राकृतिक या विवेक युक्त समझते हैं। वे सामाजिक जगत में ऐसे नियम प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं जो निर्जीव प्रकृति के समान गुण रखते हों। पर यह चेष्टा असम्भव है। यह इस सत्य को भूल जाना है कि सामाजिक जगत स्थाई रूप से गतिशील होने के साथ ही स्थाई रूप से नया भी है। उसके अन्त-र्गत जनसमूह में हरेक के व्यक्तिगत क्रियाशील संकल्पों का मिलकर समीकरण होता है और ये व्यक्ति अपने कामों के सामूहिक परिणाम

को देखकर, उन्हें बदलने की योग्यता रखते हैं। परिवर्तन की इच्छा होने पर वे परिवर्तन करते हैं। इसलिए जिन नियमों में प्राकृतिक नियमों के समान दृढ़ स्थिरता हो, जैसे भौतिक विज्ञान या रसायन शास्त्र, वैसे कानून राजनीति क्षेत्र में नहीं बन सकते। यह कहना कि सामाजिक जीवन प्रकृति के अनुरूप हो, जैसा कि स्टोइक दर्शन का आदर्श था, इस बात को ध्यान में नहीं रखता है कि सभ्य संसार में मनुष्य की प्रकृति ही कलामय है। कला के उच्चतम सिद्धान्तों के अनुकूल जीवन सौन्दर्य तथा अच्छाई की विश्वव्यापी भावनाओं पर ही बनता है।

सच तो यह है कि कानून के जिन अधिकांश सिद्धान्तों पर हमने अभी विचार किया है वे सदैव ऐसी ही सामाजिक व्यवस्था के पक्ष में हैं, जिसमें कुछ के लाभ के लिए अधिकांश के हितों का बलिदान होता है। उदाहरणार्थ, हेगेल के राज्य-सिद्धान्त के विषय में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि उसके अनुसार व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति प्रशा के राजा के आज्ञापालन में प्राप्त करता है। संक्षेप में, ऐसे सिद्धान्त एक आंशिक तथा पाक्षिक-अनुभव-जन्य विचारों को समुदाय के शेष भाग के संकल्पों के ऊपर बिना पर्याप्ति रूप से इस बात को जानने का प्रयत्न किये हुए कि उनके अनुभव कहाँ तक इन धारणाओं के अनुकूल हैं, लादते हैं। इसी से विधि का एक सिद्धान्त इतना आकर्षक हो गया है कि प्राचीन यूनान के समय से आज तक इसने मनुष्यों के ऊपर एक स्थायी मोह डाल रखा है।

मूलतः विधि का यह सिद्धान्त बहुत सादा है। इस अनुसार कानून तब तक मनुष्यों पर लागू नहीं हो सकता जब तक उसे अपने ऊपर बाध्य करने की स्वीकृति न दें। इसलिये कानूनी निर्देश राज्य की जिस किसी प्रणाली द्वारा जायज बन जाते हैं, उसी से सिद्ध होता है कि जनता ने उस सिद्धान्त को मान लिया है जिनके आधार पर

कानून बना है। सभी जानते हैं कि अगर आदमी अपना वादा पूरा न करे तो जीवन दुर्लभ हो जावे। हमको अपना राज्य लोगों की सहमति से बनाने दो। तब जो कानून बनेगा वह हरेक नागरिक को बाँधने का दावा कर सकेगा। अन्यथा यह शासन नहीं, केवल बल प्रयोग है और इसका कोई नैतिक आधार नहीं है।

मोटे तौर पर सामाजिक संविदा का यही सिद्धान्त है। मनुष्य राज्य की रचना करना स्वीकार करता है और उसे आदेश देने की शक्ति प्रदान करता है। हॉब्स का कहना है कि यह शक्ति या अधिकार असीमित और अभंग है। अराजकता के अभिशाप से बचने के लिये जनता अपने ऊपर एक निरंकुश स्वामी बैठा लेती है। लॉक का कहना है कि राज्य की शक्ति सीमित और वापस ली जा सकती है। जनता राज्य की रचना से अपना लाभ समझ कर उसे बनाती है पर उसे सार्वभौम नहीं स्वीकार करती। राज्य एक लिमिटेड कंपनी की तरह से है, जिसे क्रांति के भय से अपने स्थापना के उद्देश्यों के अनुसार रहना पड़ेगा। रूसो का सिद्धान्त है कि जनता ही सर्व-योग्य है और उसी की स्वीकृति से राज्य प्रकट होता है। पर, उसके हरेक कार्य में, हरेक संकल्प में इनमें से प्रत्येक मनुष्य के संकल्प का अंश वर्त्तमान है। स्थायी रूप से जनता की सम्मति लेकर राज्य चल रहा है और उसके कानून प्रजा पर केवल इसलिये लागू हैं कि जनता स्वयं उनका तत्व बनाती चलती है।

मेरी समझ में इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि जनता की सम्मति से जो कानून बनते हैं उनका यह दावा काफी बलवान है कि वे सबसे अपनी आज्ञा का पालन करायें। विधि की इतनी शक्ति का दावा इस विषय में और कोई दूसरा सिद्धान्त नहीं कर सकता। सम्मति के इस सिद्धान्त मे, विधि के प्रति अपनी स्वीकृति देकर, मनुष्य स्वयं अपने ऊपर ही उत्तरदायित्व ले लेता है और इस-

लिये यह स्पष्टतः उचित है कि वह अपने को उनके बन्धन में समझे। किन्तु, ऐसे सिद्धान्त में जो गहरे दोष हैं उनको भी हमें नहीं छोड़ देना चाहिये। इस सिद्धान्त के मूल में यह विचार है कि प्रारम्भ में एक सामाजिक अनुबन्ध हुआ होगा, पर इसका प्रमाण क्या है ? राज्य बनाया नहीं गया है, उसका विकास हुआ है। और उसका कार्य-विस्तार केवल सम्मति के ही आधार पर नहीं हुआ है। इसके अनेक उदाहरण हैं कि किन्हीं अवसरों पर राज्य के भीतर विरोधी अल्पमत वालों को बलपूर्वक उसकी आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ी है। यह बात भी ध्यान में रखनी है कि छोटे-छोटे नगर के राज्यों की परिधि को पार करने के बाद राज्य की सीमा के बड़ा हो जाने के कारण, उनके संकल्प तथा इच्छा को व्यावहारिक रूप में व्यक्त करने के लिये, किसी ऐसे प्रकार की ही सरकार बनेगी जो जनता के प्रतिनिधियों द्वारा ही चलाई जाय।

सामाजिक अनुबन्ध के समर्थक, इस स्थल पर, बहुधा एक मौन-संविदा की बात करते हैं। परन्तु, क्योंकि सम्मति में संकल्प द्वारा विचारपूर्वक किये कार्य का भाव वर्तमान है इससे मौन-सम्मति से अधिक निश्चित वस्तु की आवश्यकता है। और उस विधि के विषय में हम क्या कहेंगे जिसके बनने के समय मनुष्य की सम्मति होती हैं, पर उसके व्यवहारिक परिणाम का अनुभव करके वह अपनी सम्मति वापस ले लेता है। क्या ऐसी दशा में भी वह नियम उसके लिये वैध हैं। यदि इसी प्रकार सम्मति वापस ले ली जाया करे तो क्या शासन का काम असंभव न हो जायगा ? सारांश यह कि कानूनी अनुशासनों की ऐसी कोई भी प्रणालो अधिक अच्छी समझी जायगी जिसमें जन समूह पर कम से कम दबाव पड़े। किन्तु आधुनिक समुदाय के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए यह असंभव है कि कोई ऐसी प्रणालो बने जिसमें कम से कम उसके कुछ नागरिकों पर राज्य का बल प्रयोग न करना पड़े।

IV

हम इस प्रमुख समस्या को दूसरे ढंग से रखते हैं। मैंने कहा है कि मनुष्य के आचरण को नियंत्रित करने वाली प्रणाली का नाम राज्य है। यह ऐसी कानून-व्यवस्था है जिसके नियमों के एक ढंग में बँधकर आदमी को आचरण करना पड़ता है। अन्ततोगत्वा इसके राज्य के कार्य आज्ञा के रूप में होते हैं और कानूनन राज्य का कोई भी नागरिक इससे बच नहीं सकता। किन्तु, उसमें यह शक्ति क्यों है। राज्य के व्यवहारिक कार्यों को छोड़कर और किसी तरह इसकी सफाई नहीं दी जा सकती। राज्य जो करना चाहता है उसी की जानकारी से उसकी शक्ति का औचित्य प्रमाणित होता है। उसके नियमों को इस योग्य होना चाहिये कि वे उन माँगो को पूरा कर सकें जिनके लिए वे बनाये गये हैं। राज्य के भीतर विभिन्न प्रकार के स्वार्थों और आकाँक्षाओं के लोगों का जमघट है। निजी स्वार्थ होते हैं, कुछ में सहयोग होता है, कुछ में प्रतिद्वन्दिता होती है। यदि वह हरेक को अपने अधीन रखने का दावा करता है तो उसे चाहिये कि समाज मात्र की माँग को अधिकतम सीमा तक पूरा कर सके। उसे विभिन्न स्वार्थों में ऐसा संतुलन प्राप्त करना चाहिये कि अन्य किसी दूसरे उपाय की तुलना में वह अधिक से अधिक स्वार्थ तथा हितों को संतुष्ट कर सके। वह संतुलन कैसे प्राप्त हो, हम किसी स्थायी सिद्धान्त के अनुसार नहीं बता सकते—केवल इसलिये कि हरेक युग में वस्तुओं का मूल्यांकन बदलता रहता है, दृष्टिकोण बदलता रहता है, और किसी एक विधि का तात्विक गुण बनते और समाप्त होते कोई देर नहीं लगती। हम तो यही कह सकते हैं कि वैध-परमादेश तभी लागू किये जाँय जब हम उनके द्वारा मनुष्य की इच्छाओं का कम से कम हनन करके, उनका सामूहिक कल्याण कर सकें। अतः हमको ऐसी संस्थाओं की रचना करनी पड़ेगी जिनके द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये, राज्य अपना कार्य संचालन करे।

द्वितीय अध्याय

महान समाज में राज्य का स्थान

I

पिछले अध्याय में मैंने तर्क किया है कि राज्य की शक्ति का औचित्य उसी सीमा तक है, जहाँ तक वह जनसमूह से कम से कम त्याग कराकर—उसके ऊपर कम से कम प्रतिबंध तथा निर्णय द्वारा—मानव की आवश्यकताओं की अधिक से अधिक पूर्ति करता है। अपने इस कार्य की पूर्ति के गुण-दोष पर ही जनता द्वारा केवल नियमानुरूप से अधिक भक्ति पाने का उसे अधिकार होगा।

इसका सही तात्पर्य समझने के लिए हमको महान समाज में राज्य का स्थान जान लेना चाहिए। मैंने उपर बतलाया है कि मानव के आचार-व्यवहार का नियंत्रण करनेवाली एक प्रणाली का ही नाम राज्य है, किन्तु, राज्य के प्रत्येक सदस्य के जीवन पर इन नियंत्रणों का जो परिणाम होता है, उन्हीं से इनका औचित्य निश्चित होता है। हरेक व्यक्ति अपनी इच्छाओं या आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करता है ताकि सुख को प्राप्ति हो। उसके लिये राज्य ही वह महानतम संस्था है, जिसने ऐसे नियम बना दिये हैं जिनके भीतर चल कर ही वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। राज्य के कुछ निर्देश उसे पसन्द होंगे तथा कुछ से उसे गहरी चिढ़ होगी। उसकी दृष्टि में राज्य कुछ काम करके या न करके, अपराध कर रहा है। वह चाहता है कि संकल्प अथवा इच्छा, जहाँ तक संभव हो, उसके निजी अनुभवों से प्राप्त शिक्षाओं के साथ सामजंस्य रखते हों।

वह व्यक्ति केवल राज्य का ही सदस्य नहीं है। जिस समाज का वह अंग है, उसमें अगणित स्वार्थ-समुच्चय हैं, जिनसे उसका भी सम्बन्ध हो सकता है। वह किसी चर्च का सदस्य है, श्रमिक संघ में शामिल है, संक्रामक रोगों में अनिवार्यतः टीका लगाने के आन्दोलन का समर्थक है, वह ऐसा शान्तिवादी हो सकता है कि अनिवार्य सैनिक सेवा में उसे मौलिक या सैद्धान्तिक आपत्ति हो। कहने का तात्पर्य यह है कि वह अपने स्वार्थों के कारण उपर्लिखित स्वार्थों की सिद्धि के लिए अनेक संस्थाओं से सम्बन्ध रखता है। ये संस्थायें राज्य द्वारा निर्धारित नियमों से अंतर्गत ही, अधिकांशतः काम करती हैं। राज का संकल्प ही वह सीमा निश्चित करता है जिसके भीतर संस्था के रूप में ढले हुए वे स्वार्थ समूह अपनी इच्छा या संकल्प को सीमित रखेंगे। इन संस्थाओं अथवा स्वार्थों की इच्छा से उनके सदस्य वहीं तक बाध्य हैं जहाँ कि वे राज्य द्वारा निर्दिष्ट वैध निर्देशों के अंतर्गत हों।

पर व्यक्ति केवल राज्य का एक सदस्य नहीं है। इसीलिए, वह अपने को बाध्य नहीं समझता कि केवल संप्रभु राजनैतिक संगठन होने के कारण ही उसकी आज्ञा का पालन करे। वह अपने अनुभव से भी काम लेता है। वह राज्य के कार्यों की समीक्षा करता है। उसका ऐसा द्वन्दमय व्यक्तित्व है, जिससे वह राज्य के भीतर उसका एक अंग बनकर काम करता है, या अलग हो जाता है। मान लिया जाय कि उसके धार्मिक समुदाय का राज्य से संघर्ष हो गया, ऐसी दशा में व्यक्ति ही निर्णय करेगा और वही निर्णय कर सकता है कि किसका साथ दे—सम्प्रदाय का या राज्य का। यदि राज्य ने उसके श्रमिक संघ को कुचल डालने का निश्चय किया तो व्यक्ति अपने संघ के इस निश्चय में सहायक होगा कि कुचला जाना स्वीकार किया जाय या नहीं। राज्य सदैव आकस्मिकता के वातावरण में काम करता है।

सफलतापूर्वक दबा सकने की शक्ति के लिए यह जरूरी है कि सफलतापूर्वक मनवा लेने की भी शक्ति हो। राज्य व्यक्ति को यह समझाने में सहायक हो कि उसका कल्याण इसी में है कि वह उसके वैध परमादेशों का पालन करे। व्यक्ति की राजभक्ति राज्य के प्रति इसलिए नहीं है कि वह राज्य है—बल्कि इसलिए है कि राज्य क्या करना चाहता है।

साधारणतः हमको ऐसा अवसर बिरले ही मिलता है जब कि राज्य अपनी आज्ञापालन के स्वत्व को अकस्मात् प्रकट करे। साधारणतः व्यक्ति आज्ञापालन में हिचकता नहीं। राज्य की शक्ति महान है। व्यक्ति की सत्ता के मूल तक उसका अनुशासन है। राज्य के अधिकार को चुनौती देने के लिए उसे अपनी जड़ तक हिला देनी पड़ेगी। किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन, साधारण इतिहास, या क्रान्तिकारी दलों या उनके नेताओं के जीवन के अध्ययन से तथा इंगलैंड में सन् १६१८ के पूर्व तक स्त्री मताधिकार आन्दोलन के इतिहास से भी यह प्रकट है कि जिस चीज को मानव न्याय समझता है, जब उसे राज्य की प्रवृत्ति से आघात पहुँचता है तो वह और उसी के समान विचार रखने वाले अन्ततोगत्वा, राज्य के कार्यों से अपनी असहमति व्यक्त करने के लिए तत्पर हो जाते हैं।

हम इस प्रकार की असहमति को तब तक निन्दनीय नहीं कह सकते जब तक यह न मानलें कि समाज का सर्वोपरि कल्याण केवल व्यवस्था रखने में है। यह एक असम्भव मत है। व्यवस्था का महत्व उससे उत्पन्न होने वाला परिणाम है। व्यवस्था केवल व्यवस्था होने के कारण अच्छी नहीं होती। ऐसी व्यवस्था के पालन से जिसमें राज्य के कार्यों से नागरिकों का निरंतर उत्पीड़न हो रहा हो, जीवन को जीवन के योग्य बनाने वाली परिस्थिति की हत्या करना है। राज्य को हम अपनी भक्ति इसलिए प्रदान करते हैं कि उसका

उद्देश्य हमारे जीवन के उद्देश्यों के समानान्तर हो। अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उसका प्रभुत्व स्वीकार करते हैं। उसके कार्य संचालन से हमको ऐसा प्रतीत होना चाहिए कि हमारी भलाई उसकी भलाई में है। हमको यह अनुभूत होना चाहिए कि उसके नियम राज्य के अन्य सदस्यों के सुख के हित में जिस प्रकार है उससे कम हमारे सुख के हित में नहीं है। जब उसके कार्यों से हमारे अनुभव इनके विपरीत होता है, हम उसके अधिकार को चुनौती देने के लिए बाध्य होते हैं—यदि हम अपनी चुनौती को प्रभावी बना सकते हों।

आइए, इसी बात को दूसरी तरह से कहें। राज्य नियमों का परिचालन करता है, नियम के लिए नहीं, पर इसलिए कि वे व्यक्ति के जीवन के लिए क्या करते हैं। उसका हरेक सदस्य सुख की खोज में प्रयत्नशील है। उसे ऐसी परिस्थिति चाहिए जिसके बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता। और वह व्यक्ति राज्य की परख इसी से करता है कि उसे वह परिस्थिति कितनी मात्रा में मिल रही है। यह स्पष्ट है कि राज्य हरेक को सुख दिलाने की गारण्टी नहीं ले सकता। यह इसलिए कि सुख-संबंधी कुछ परिस्थितियाँ उसके बूते के बाहर की चीज हैं। किसी व्यक्ति को बिना अमुक स्त्री का प्रेम प्राप्त किए जीवन भार मालूम होता है। पर, कोई यह दावा न करेगा कि राज्य को उसके लिए उस प्रेम का आश्वासन प्राप्त करना चाहिए। हम केवल यही कह सकते हैं कि सन्तुष्ट सामाजिक जीवन के लिए—उसके न्यूनतम मूल आधार के लिए—कुछ ऐसी सुखदायक परिस्थितियाँ है, जिनसे जनसमूह को निश्चित सीमा तक सुखी किया जा सकता है। यदि राज्य चाहता है कि उसके अनुशासन में लोग रहें तो उसे कम से कम उतना सुख तो अपने सदस्यों को प्राप्त कराना चाहिए ही।

संक्षेप में, नियम बनाकर, राज्य अपने लिए जिम्मेदारियाँ पैदा

कर लेता है। राज्य का कार्य उसके उद्देश्य से सीमित रहता है। इस उद्देस्य की पूर्ति ही—इस उद्देश्य की रक्षा कैसे हो, इसीलिए जनता राज्य में अपना भी अधिकार रखती है। जनता के अधिकार से हमारा क्या तात्पर्य है ? ऐतिहासिक अनुभव से हम कह सकते ह कि यह वह वस्तु है जिसके बिना मानव को विश्वास ही नहीं हो सकता कि उसे सुख को प्राप्ति होगी। हम यह नहीं कहते कि मानव के अधिकार निरंतर है, स्पष्टत: वे समय तथा स्थान से सम्बंधित हैं। इस सम्बन्ध या अपेक्षाकृत स्थिति को स्वीकार करते हुए भी, व्यक्ति को पूरा अधिकार है कि राज्य के अनुशासन में चलने के लिये अपने स्वत्व को स्वीकार करने की शक्ति लगाये।

स्यात्, हमारे इस कथन का भाव समझने के लिये यह उचित होगा कि हम अपने अँग्रेजी समाज में साधारण नागरिक की स्थिति का चित्रण करें। बिना व्यक्तिगत सुरक्षा के वह सुख की आशा नहीं कर सकता। उसे यह जानना ही चाहिये की जीवनचर्य्या में यह साधारणत: आशा की जाने वाली बात पूरी होगी—वह अपने ऊपर आक्रमण के भय से मुक्त है। उसके जीवन निर्वाह का साधन होना चाहिये यानी राज्य यह स्वीकार करे कि उसे जीविका के लिये काम करने का अधिकार है और यदि उसे काम नहीं दिया जा रहा है तो समाज को उसके अच्छी तरह भरण-पोषण का प्रबंध करना चाहिये। किन्तु, केवल "जीविका के लिये काम करने का अधिकार" मात्र कह देने से सभ्य जीवन की आवश्यकतायें नहीं पूरी हो जाती। इसका अर्थ यह भी होना चाहिये कि उसे उचित मजदूरी पर काम मिले और इतने घण्टों तक काम लिया जाय जिससे वह केवल जीवन निर्वाह के अतिरिक्त, व्यक्तिगत विशिष्टता भी प्राप्त कर सके। उचित पारिश्रमिक से मेरा तात्पर्य ऐसी प्राप्ति से है जिससे शारीरिक अपेक्षाओं को शान्ति के अतिरिक्त मानव की आध्यात्मिक माँगे भी पूरी हो सकें। मैं कहता

हूँ कि काम करने के उचित घण्टे होने चाहिये, इसलिये कि मशीनों से उत्पन्न हमारी आधुनिक सभ्यता में अधिकांश नागरिक अपने व्यक्तितत्व की सम्पूर्णता अवकाश के समय में ही प्राप्त करते हैं, काम करने वाले समय में नहीं। जिस राज्य में, औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भिक-काल की भाँति मालिक को अपने कार्यकर्त्ताओं से विश्राम-रहित परिश्रम लेने का अधिकार होता है, वहाँ सुख प्राप्ति की कोई सम्भावना उनके लिये नहीं रह जाती है। इसलिये अवकाश का अधिकार भी राज्य की ओर से निर्धारित वैध आवश्यक-कर्त्तव्य होना चाहिये।

किन्तु, यदि राज्य को मानव के वास्तविक सुख का विचार है तो व्यक्ति को ऊपर लिखे से कहीं अधिक अधिकार चाहिये। दूसरों के साथ अपने सम्बन्ध की उसे जानकारी होनी चाहिये और उसे इस योग्य होना चाहिये कि अपने इस सम्बन्ध से प्राप्त अनुभव को बतला सके। इस कार्य के लिये ज्ञान का होना जरूरी है। इसीलिये शिक्षा प्राप्त करना नागरिकता के मौलिक अधिकारों में से है। बिना शिक्षा, साधारणत: मनुष्य इस महान संसार को समझ नहीं सकता। वह उसमें खो जाता है। अपना सदुपयोग नहीं कर सकता। अपने अनुभवों से प्राप्त जानकारी का आलोचक नहीं बन सकता। वर्त्तमान सभ्यता की विषमताओं में अपढ़ व्यक्ति उस अंधे के समान है जो कारण तथा कार्य, दोनों की जानकारी नहीं रखता। जिस राज्य में नागरिकों को शिक्षा की सुविधा नहीं है. वह राज्य उन्हें अपने व्यक्तितत्व को प्राप्त करने के साधनों से वंचित रख रहा है।

किन्तु, केवल शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है। मान लीजिये कि एक आदमी ने शिक्षा प्राप्त कर ली, फिर भी राज्य उसे अपने ज्ञान के उपयोग का अवसर नहीं देता। ऐसा अधिकार न मिलने का अर्थ है उससे लाभ उठाने का अधिकार न होना। इसलिये नागरिक के अधि-

कारों की इस दिशा में भी रक्षा होनी चाहिये। इसी दृष्टि से चार अधिकार अनिवार्य हैं—अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता हो; अपने समान विचार रखने वालों से मिलकर निश्चित उद्देश्य या उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपना संगठन करने की स्वतंत्रता हो; अपने ऊपर शासन करने वालों के निर्वाचन में सहायता दे सके; यदि वह दूसरों को अपने ही चुनने के लिये राजी कर सके तो वह स्वयं राज्य के शासन में भाग ले सके।

तात्पर्य यह हुआ कि प्रभावत: कोई भी राज्य तब तक अपने उद्देश्यों को पूरा न कर सकेगा जब तक वह सार्वजनिक मताधिकार पर आधारित प्रजातंत्र न हो। जिसमें न केवल हरेक को भाषण तथा संगठन की स्वतंत्रता हो, पर यह भी मान लिया जाय कि जाति, धर्म, जन्म (कुल) तथा सम्पत्ति के कारण नागरिक अधिकार के उपयोग में कोई बाधा न होगी। हमने इस बात को केवल इसलिये मान लिया है कि इतिहास साक्षी है कि किसी वर्ग या समुदाय को अधिकार से वंचित कर देने का परिणाम यह होता है कि वे शासन के लाभ से भी वंचित हो जाते हैं। राज्य का संकल्प सदा शासन के द्वारा उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप कार्यान्वित किया जाता है जिनके ऊपर वह शासन अपनी सत्ता के नवीकरण के लिये निर्भर रहता है। यह सरकार नागरिकों के जितने अधिक व्यापक क्षेत्र पर निर्भर करेगी (यानी जितना विस्तृत मताधिकार होगा) उतना ही अधिक सामूहिक आवश्यकताओं पर विचार होगा। हम यह अस्वीकार नहीं करते कि प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली में भी कठिनाइयाँ अन्तर्निहित हैं। किन्तु, किसी प्रकार की राजनैतिक दर्शन बिना यह स्वीकार किये हुए कि नागरिकों को अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति का समान रूपेण अधिकार है, व्यक्ति की मत सम्बन्धी माँगों को पूरा करने का दावा नहीं कर सकता। और उनकी इच्छाओं का राज्य के संकल्प पर अनवरत रूप से

प्रभाव पड़ने के लिये एक मात्र उपाय यही है कि शासन वैधानिक सिद्धान्त द्वारा बाध्य किया जाय कि उनकी इच्छाओं को निश्चित रूप से ध्यान में रखे।

भाषण तथा संगठन स्वातंत्र्य के सम्बन्ध में एक बात आवश्यक है। राज्य में इससे ज्यादा जरूरी चीज और कुछ नहीं है कि नागरिक राज्य की समस्याओं के विषय में स्वतंत्रतापूर्वक अपना विचार प्रकट कर सकें तथा जिस उद्देश्य पर वे एक सम्मति हो जाँय, उसे पूरा करने के लिये एक साथ मिलकर काम करने की स्वतंत्रता उन्हें प्राप्त हो। यदि उसके लिये उनको दण्ड मिलेगा तो निश्चय है कि उनके अनुभव का कोई लाभ न उठा सकेगा। राज्य अपने प्रतिकूल विचारों को दबा देगा तथा उन स्वैच्छिक संघों का संगठन रोक देगा जिनके उद्देश्य को यह उचित नहीं समझता है। कारण, अनुभव पृथक है और आत्मानुभूति के लिये यह आवश्यक है कि उसके परिणाम से लाभ उठाया जाय। वास्तव में यह कहा जा सकता है कि किसी राज्य की स्थिति का सबसे अच्छा अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वह अपने वैध परमादेशों को लागू करने के समय विरोधी तथा विभिन्न विचारों के प्रति कितनी सहिष्णुता दिखलाता है। विचारों को कुचलने का प्रत्येक प्रयत्न वास्तव में, इच्छा की सन्तुष्टि को अस्वीकार करने का प्रयास है। यह इस अनुभव को जिसे ध्यान में रखना है, सीमित करने की चेष्टा है। इससे राज्य के कार्यों से समुदाय के केवल एक ही अंग का कल्याण होने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

हम यह भी नहीं कह सकते कि ऐसी स्वतंत्रता का अधिकार असीमित है। राज्य का काम है व्यवस्था रखना, अतः उसे इसका ध्यान रखना है कि शान्ति कायम रहे। इसलिये, उसे यह कहने का अधिकार है कि यदि कोई ऐसी बात कही जावेगी जिससे प्रत्यक्षतः

तुरन्त अशान्ति या उपद्रव करने के लिये भड़काया जाता है तो वह दण्डनीय होगा। इसी प्रकार यदि कोई संगठन सुव्यवस्था में व्याघात उत्पन्न करने वाला है, तो वह भी दंडनीय होगा। इन कारणों से राज्य किसी पुस्तक या पर्चे को नहीं दबा सकता; पर उस व्याख्याता को दण्ड दे सकता है जो ट्राफलगार स्क्वायर में उत्तेजित जनता को अपने भाषण से डाउनिंग स्ट्रीट पर आक्रमण करने के लिये उकसाता है। वह टॉल्सटाय के अनुयायी अराजकवादियों की संस्था को नहीं दबा सकता, इसलिये कि उनके सिद्धान्त हिंसा से मेल नहीं खाते किन्तु उसे अधिकार होगा कि अल्स्टर (उत्तरी आयरलैण्ड) के स्वयंसेवक दल ऐसे संगठन को कुचल दे जो राज्य के आदेश की अवज्ञा में शक्ति के उपयोग के लिये संगठित हुआ है। समाज की शान्ति के लिये जिस सीमा तक आशंका होती है, वहीं तक स्वाधीनता की सीमा होती है। जहाँ ऐसी कोई आवश्यकता नहीं होती, राज्य का हस्तक्षेप अधिकार का अपहरण है।

हम उन अधिकारों को भी नहीं भूल सकते जो व्यक्तित्व के हितों की रक्षा करते हैं। मनुष्य को अधिकार है कि वह जिस प्रकार का धार्मिक विश्वास चाहे, रखे। जब तक उसका धार्मिक व्यवहार सार्वजनिक शान्ति म प्रत्यक्षतः बाधक नहीं होता, राज्य को उसके बीच में बोलने का अधिकार नहीं है। उस व्यक्ति को न्याय के सम्पूर्ण संरक्षण का अधिकार है। न्यायतः उसे यह अधिकार है कि उसके विरुद्ध लगाये गये अभियोग प्रमाणित किये जाँय, बिना बाका-यदा वारण्ट के उसके मकान की तलाशी नहीं हो सकती, अदालत में शरण लेने पर, अदालती खर्चे इतने ज्यादा न हों कि गरीब आदमी की वहाँ तक पहुँच भी न हो पावे। यदि ऐसा नहीं है तो व्यक्ति को मौलिक अधिकार प्राप्त नहीं है। व्यक्तित्व के हित में ही उसकी एक स्वतंत्रता सीमित है और वह यह कि अपने पड़ोसी के सम्बन्ध में

आपत्तिजनक बातें तभी कही जाँय जब (१) उन आक्षेपों का सबूत हो तथा (२) उसे सार्वजनिक रूप से कहना सबके हित की बात हो।

II

नागरिकों के प्रति समुचित व्यवहार के आश्वासन के लिये, राज्य में अधिकारों की कुछ ऐसी प्रणाली आवश्यक है। बिना इनके मानव स्वतंत्र नहीं होगा। बिना इनके वह अपने व्यक्तित्व को व्यक्त करने में इतनी बाधायें पायेगा जिनसे वह कदापि आत्मसिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। जब तक इस प्रकार के अधिकार सार्वजनिक न हों, मानव दूसरों के समान होने का, बराबरी का पद प्राप्त करने का विश्वास नहीं कर सकता। जिस समाज में अधिकार भोगनेवालों की संख्या सीमित है, वहाँ पर ऐसे सीमाकरण का उद्देश्य चाहे जो भी हो, यह देखा जायगा कि इसके परिणाम-स्वरूप राज्य-कार्य से लाभान्वित होने वालों की संख्या भी सीमित हो जाती है।

अधिकारों के इस भाव में, मूल तत्व यह है किसी भी नागरिक को, राज्य का एक नागरिक होने के नाते अपनी माँग की पूर्त्ति के लिये किसी दूसरे नागरिक से अधिक अधिकार नहीं है। जिस राज्य-प्रणाली में, वैध आवश्यक कर्त्तव्य नागरिकों के वर्गों के लिये भिन्न-भिन्न होते हैं, पृथक रूप से लाभ पहुँचाते हैं, वहाँ राज्य के ध्येय की ही हत्या होती है, और जब तक यह न सिद्ध कर दिया जाय कि अधिकारों का ऐसा पृथक्करण जनसमूह के कल्याण के लिये है, राज्य का लक्ष्य ही समाप्त हो जाता है। जिस राज्य में मानव की पृथक माँग की भिन्न रूपेण पूर्त्ति की प्रणाली को संरक्षण मिलता है, उसे यह सिद्ध करना पड़ेगा कि ऐसा वैभिन्न्य सार्वजनिक कल्याण के लिये है।

वास्तव में आधुनिक सामाजिक जीवन की परिस्थितियों की जो भी समीक्षा करेगा, उसे यह मालूम हो जायेगा कि व्यक्तिगत माँगों

की पूर्ति के लिये कितने भिन्न उपाय करने पड़ते हैं। परिश्रम तथा पुरस्कार में कोई समानुपात नहीं रह गया है। राज्य अपने नागरिकों को जो संरक्षण देता है, उसके समीकरण का भी शायद ही प्रयत्न होता हो। आजकल के राजकीय निर्देश वर्तमान विशेषाधिकारों की रक्षा करते हैं, उनको व्यापक करने का प्रयत्न नहीं होता। समाज धनी तथा दरिद्र दो अंग में विभाजन के कारण राज्य के निर्देश धनी के हित तथा कल्याण में होते हैं। आज हम जिस "सम्पत्ति" की प्रथा में रहते हैं, उसमें मानव जीवन को नियंत्रित करने वाले राज्य निर्देश व्याख्या में एकपक्षीय हो जाता है। इसके कारण, समाज के भिन्न वर्गों की माँगों की शक्ति इतनी विभिन्न हो जाती है कि डिज-रायली के शब्दों में, ये वर्ग एक ही जनसमूह के न मालूम होकर दो राष्ट्र प्रतीत होते हैं।

इस बात से राजनैतिक दर्शन यही निष्कर्ष निकाल सकता है कि बिना नागरिकों में भौतिक विभिन्नता को दूर किये राज्य अपने ध्येय को प्राप्त नहीं कर सकता। गरीब और अमीर में बँटा हुआ राष्ट्र वास्तव में दो विरोधी भागों में बँटा हुआ है। धन से अभिमान पैदा होता है। दरिद्रता से निम्नता आती है। धनी वर्ग चरम सीमा तक अपने अर्थ लाभ की रक्षा करना चाहता है। दरिद्र वर्ग को सुख प्राप्ति के लिये उस पर आक्रमण करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं दीखता। इसलिये राज्य को, यदि अपना ध्येय प्राप्त करना है, तो बाध्य होकर अपने कार्य परिचालन को ऐसा संगठित करना होगा कि इस असमानता को कम से कम किया जाय। काम कर लेने की अपनी शक्ति द्वारा वह दरिद्रों की माँग पूरी करने के लिये धनिकों से उनके धन के एवज में कर वसूल सकता है। गत पचास वर्षों में, उन्नीसवीं सदी के पुलिस-राज्य का बीसवीं सदी के समाज-सेवक राज्य में परिवर्तन की गति का जो अध्ययन करेगा, उसे

मालूम हो जायगा कि सामाजिक असमानता बनाये रखने के लिये, सम्पन्न वर्ग मूल्य चुका कर, रियायतें पर रियायतें देना स्वीकार करता जा रहा है। और, ये रियायतें मात्रा में बढ़ती ही जा रही हैं। दरिद्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य या निवास-सम्बंधी सुधार के हरेक कार्य के लिये और अधिक रियासतों की माँग बढ़ती रहती है। लोग यह महसूस करने लगे हैं कि वह सामाजिक प्रणाली दोषपूर्ण ह जिसमें परिश्रम तथा उसके पुरस्कार में समानुपात ठीक नहीं बैठता। एक शब्द में, समानता की कामना मानव-स्वभाव की स्थायी विशेषता है। जिस राज्य में इस कामना की तुष्टि नहीं प्राप्त होती, उसकी सत्ता ही खतरे में होती है। आज राज्य भले ही टाल जाय पर उसे अपने सदस्यों को विश्वास दिलाने का प्रयत्न करना ही होगा कि उसके वैध परमादेश केवल रूप में ही नहीं, तत्वत: भी, सर्व-साधारण के लिये समान रूप से न्याय करने वाले हैं।

कुछ पहले मैंने जिन अधिकारों के सम्बंध में अपने विचार प्रकट किये थे, उसी सम्बंध में कुछ बात कहना चाहता हूँ। वैध निर्देशों की कोई भी प्रणाली स्थायी नहीं रहती। दिन प्रति दिन विभिन्न प्राय: नयी परिस्थितियों में इसका उपयोग करना पड़ता है। आज राजनैतिक दर्शन की यह साधारण सी बात है कि जो लोग आज्ञाओं को कार्यरूप में परिणत करते हैं, वे ही वास्तव में उसके स्वामी ह, आज्ञा देने वाले हैं। वैध निर्देशों की व्याख्या करनी पड़ती है। भाषण स्वतंत्रता की सीमा कहाँ तक है। किस दशा में किसी संस्था से राज्य में समाज के शान्तिमय जीवन में व्याघात उत्पन्न होने की आशंका है, अमुक कानून उचित है या अनुचित, क्या श्रमिक संघों की रचना के कारण उनको पार्लियामेंट में

संयुक्त राज्य अमरिका की तरह, काम करने के घण्टों की सीमा बाँध देना प्रसंविदा स्वातंत्र्य का उल्लंघन है? इन पर तथा इनके साथ अनेक

समस्याओं पर निर्णय करना होगा। हरएक प्रश्न में समाज के स्वार्थों का संतुलन करना होगा। और स्पष्टतः यह सबसे महत्वपूर्ण है कि यह संतुलन किस प्रकार प्राप्त करना चाहिये।

जिस राज्य में समाज के वर्गों में भौतिक विभिन्नता होती है, उसका ध्येय विपरीत होकर केवल धनी का कल्याण साधन करना है। धनी वर्ग की शक्ति राज्य के प्रतिनिधियों को उनकी इच्छा पर प्रथम ध्यान देने के लिये बाध्य करती हैं। उनके सत की धारणा ही अलक्ष्य रूप में शासन के मानसिक वातावरण को व्याप्त किये रहती है। राज्य के यंत्र पर उनका प्रभाव रहता है। न्याय से उनका तात्पर्य उनकी माँगों की पूर्ति है। इतिहास उपदेश से उनका तात्पर्य उनके अनुभवों का संकलन है। उदाहरण से लिये इंगलैंड के न्यायाधीशों द्वारा श्रमिक विधि संघ की व्याख्या ही लीजिये। औसबोर्न के मुकदमे में जैसे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि मध्यम श्रेणी के वर्ग द्वारा परिचालित राज्य के न्यायाधीशों का मस्तिष्क श्रमिक-श्रेणी की आवश्यकता को नहीं समझ सकता। संयुक्त राज्य अमेरिका के १४ वें संशोधन का इतिहास पढ़ने वाला अनायास कह बैठेगा कि वहाँ न्यायालयों ने सामाजिक-विधान के विकास के विरुद्ध संघर्ष में व्यवसायी वर्ग के सहायक के रूप में काम किया है। इटली में फासिष्ट शासन, जर्मनी में नात्सी निरंकुशता तथा स्पेन में फ्रैंकों के एक-शास्तृत्व की स्थापना का इतिहास राज्य के संविधानिक संगठन में जानबूझ कर किए हुए परिवर्त्तन का अभिलेख है, जिसको सेवायोजकों द्वारा उत्साहित तथा सहायता प्रदान की गई थी, क्योंकि इससे अनेक अन्य बातों के साथ श्रमिक-संघ-संगठनों का भी विनाश हो जाता। यहाँ पर हम, बल-प्रयोग-द्वारा प्रजातांत्रिक-शासन-यंत्र का दुष्प्रयोग देखते हैं।

मेरा तात्पर्य यह है कि यदि राज्य के सदस्यों में अपनी मांगों की पूर्ति कराने की क्षमता में घोर अन्तर हो तो उस का ध्येय प्राप्त हो ही नहीं सकता। ऐसा अन्तर आर्थिक रचना के कारण ही होता है। इस दृष्टिकोण से राज्य के वैध परमादेशों का कार्यरूप में, औचित्य केवल औपचारिक है। हरेक व्यक्ति तथा वर्ग को यह पूरा अधिकार है कि वह अपने मन में निश्चय करे कि राज्य के परमादेश वैध हैं भी या नहीं और वह अपने इसी निर्णय के अनुसार उन पर कार्य करे।

इस बात से विधि का ऐसा सिद्धान्त बनता है जो राजनैतिक दर्शन में मुख्य महत्व रखता है। स्वयं को प्रभावित कर सकने वाली समाज की इच्छा की अभिव्यक्ति का नाम ही कानून है। उसे अपने अनुशासन का दावा केवल इसलिए नहीं हो सकता है कि वह क्रियात्मक रूप धारण कर चुकी है। यह अनुशासन का दावा व्यक्तिगत नागरिकों के जीवन पर उसके प्रभाव तथा परिणाम पर निर्भर करेगा। यह परिणाम नागरिक स्वयं समझ सकता है। इसलिए कानून का न्यायत्व या औचित्य नागरिकों के निर्णय पर ही निर्भर करेगा। अतएव हरेक राज्य को, अपने ध्येय की पूर्त्ति के उद्देश्य के कारण, अपनी संस्थाओं का ऐसा संगठन करना पड़ेगा कि उसके वैध निर्देशों पर नागरिकों का निर्णय पूरी तरह से मालूम होता रहे और उसी प्रकार उसको तौला जा सके। अन्यथा, इन निर्देशों के परिणाम का पूरी तौर पर पता भी नहीं चल सकेगा। इन निर्देशों से शक्तिशाली नागरिकों की इच्छा की पूर्त्ति ही हो सकती है और चूंकि इस समूह का अनुभव समाज के शेष अंग के स्वार्थ से भिन्न है, अतः उसका समर्थन केवल अपने हित के विचार से एक-पक्षीय होगा। ऐसी दशा में राज्य केवल एक ही कारण से अपने अधिकार के प्रति आदर का दावा कर सकता है---और वह कारण होगा उसके अधिकारों को चुनौती देने के कारण राज्य में उत्पन्न होने वाली अव्यवस्था। हम

स्वीकार करते हैं कि यह बड़ा भारी दावा है। प्रतिरोध के मूल्य का विचार करते हुए, उसे अंतिम-शस्त्र बनाना चाहिए। पर, जिस दृष्टिकोण से हम यहाँ विचार कर रहे हैं, यह तर्क किया ही नहीं जा सकता कि इस अस्त्र की शरण न ली जाये। राज्य के नियम या कानून का प्रतिरोध करना, समाज की वह संचित-शक्ति है, जिसके द्वारा जिनकी माँगों को राज्य अस्वीकार करता रहा है, वे न्यायतः राज्य के भीतर काम करने वाली शक्तियों के संतुलन में परिवर्त्तन करने की चेष्टा कर सकते हैं।

इसलिए विधि तभी अनुशासन का दावा कर सकती है जब परिणामों के अनुभव से उसका औचित्य मान लिया गया हो। व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह अपने अनुभवों से किसी निष्कर्ष या नियम पर पहुँचता है और उस निर्णय को उसे मानना चाहिए। ऐसे निर्णय तथा राज्य के नियम में केवल यह अन्तर है कि राज्य अपने नियम को शक्तिपूर्वक पालन करा सकता है। राज्य के बनायें नियमों के पीछे केवल शक्ति का आधार होता है। और शक्ति स्वतः नैतिकता से रहित पदार्थ है। इसलिए जब राज्य का किसी धार्मिक सम्प्रदाय या व्यवसाय संघ या कम्यूनिस्ट पार्टी ऐसी संस्थाओं से मतभेद या संघर्ष होता है, उसे अपने प्रति भक्ति का कोई प्रारम्भिक दावा नहीं होता। यह दावा उन लोगों के विचार पर निर्भर करता है जिनका इस संघर्ष से सम्बन्ध है। राज्य तभी विजय का अधिकारी होगा जब वह अपने नागरिकों को यह सिद्ध कर देगा कि उसके नियमों से जनता के जीवन की सम्पूर्णता उपलब्ध होगी। अपने सदस्यों के जीवन को वह जसा बनायेगा, उसी से उसके संप्रभुता की मर्यादा बनेगी।

III

इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध में अनेक कारणों से आपत्ति की जाती है। कहा जाता है कि सामाजिक संस्थाओं को पूर्णतः सुसम्बद्ध रूप

में व्यक्त करने वाला यह कोई निर्दोष सिद्धान्त नहीं है। इसमें केवल अराजकता की संभावना ही नहीं होती, इससे तो ऐसा भी आभास मिलता है कि किन्हीं दशाओं में अराजकता भी उचित है। राज्य के प्रभुत्व को एक वैध व्यवस्था स्वीकार करते हुए भी यह उसको केवल औपचारिक महत्व देता है। वास्तव में यह राज्य को, समाज की अन्य संस्थाओं के साथ अपने प्रति भक्ति लिए प्रतिस्पर्द्धी बना देता है। और ऐसे संघर्ष में वह राज्य को विजय का कोई आश्वासन नहीं देता। इसके द्वारा राज्य का कानून न्याय से बिल्कुल अलग कर दिया जाता है। राज्य के दार्शनिक लक्ष्य की व्याख्या करते हुए भी यह सिद्धान्त अस्वीकार करता है कि उसके कार्य-परिचालन में यह लक्ष्य अन्त-र्निहित है।

मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया हैं, उसके विरूद्ध उपर्युक्त आपतियाँ हो सकती हैं। किन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या ये आपत्तियाँ महत्वपूर्ण हैं? जीवन जटिल वस्तु है और इसके अनेक पहलू हैं। इन सबको एक सिद्धान्त में हल नहीं किया जा सकता। उस राज्य में अराजकता होगी ही जिसमें मनुष्य परस्पर विरोधी इच्छाओं की पूर्ति के लिए भिन्न दिशाओं में प्रयत्नशील होगा। कोई नहीं कह सकता कि राज्य की आज्ञा मानने से अस्वीकार करना सदैव अनुचित है। यह सत्य है कि इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का प्रभुत्व केवल नियमतः स्थापित वह आधार है जिससे सब कुछ संबंधित है। किन्तु इससे अधिक उसे मानना उसके हरेक कार्य को चिरस्थायी बुद्धिमता का प्रतीक मानना होगा। पर, राज्य के सम्बन्ध में हमारा अनुभव इसके विपरीत है। वह यह है कि राज्य को समाज की अन्य संस्थाओं के मुकाबिले में, नागरिकों की श्रद्धा तथा समर्थन प्राप्त करने के लिए होड़ लगानी पड़ती है। पर, क्या यह सत्य नहीं है कि वह ऐसी प्रतिस्पर्द्धा करता है। जो भी कोई बिस्मार्क और रोमन

कैथोलिक सम्प्रदाय के बीच झगड़े का इतिहास पढ़ेगा, या आयरलैंड की सिन फेन पार्टी और ब्रिटिश सरकार, आस्ट्रिया की पुरानी सरकार तथा इटालियन प्रजा के बीच के झगड़े या जार के रूस तथा तत्कालीन रूसी क्रान्तिकारी संस्थाओं के बीच संघर्ष के इतिहास का अध्ययन करेगा, उसे यह स्पष्ट हो जायगा कि कोई भी राज्य या राज्यसत्ता तब तक नहीं टिक सकती जब तक उसके सदस्यों की माँगे पूरी न हों। संयुक्त राज्य अमेरिका में "मादक द्रव्य निषेध" सम्बन्धी कानून का जो परिणाम हुआ तथा उससे जो अनुभव हुए, वे स्पष्टतः यह प्रकट करते हैं कि राज्य अपने निर्देशों को पूर्णतः तब तक लागू नहीं कर सकता जब तक उन लोगों पर, जिन पर वह लागू किया गया है, उसका औचित्य न प्रकट न हो जाय।

कहा जाता है कि मेरे बतलाए सिद्धान्त में विधि और न्याय अलग वस्तु हो जाते हैं। इन दोनों में भेद जरूर हो जाता है, पर यह वैसा ही भेद है जैसा हम अपने जीवन में किया करते हैं। जब हम कहते हैं कि अमुक कानून अन्याय पूर्ण है, हम स्वीकार करते हैं कि दोनों के मध्य कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। यह इस पर निर्भर करेगा कि यह क्या करता है, वह तभी न्यायपूर्ण होगा जब हम उसे ऐसा मानें। संक्षेप में, कानून स्वतः तटस्थ है। उसे न्यायपूर्ण होने की विशेषता या गुण उसके मानने वाले ही देते हैं। नियम अथवा कानून का काम है लोगों की माँग पूरी करना। इस कार्य को पूरा करने में उसकी सफलता पर ही उसका नतिक औचित्य निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, हम यह नहीं कह सकते कि केवल पुरुषों को मताधिकार देने वाला नियम न्यायपूर्ण है इसलिए कि स्त्रियाँ उसे अन्याय पूर्ण कहती हैं। हम सन् १९२६ का ब्रिटिश श्रमिक संघ कानून इसलिये न्यायपूर्ण नहीं कह सकते कि सभी श्रमिक संघ उसे एक वर्गीय नियम कह कर उसकी भर्त्सना करते हैं। ये सभी नियम हैं, कानून

हैं, विधान के अंग हैं। इनको कानून बनाने की विधितः शक्ति रखने वालों ने बनाया है पर इनमें से कोई भी उस समय तक न्याय-युक्त नहीं है जब तक उनके फल को भोगने वाले ऐसा न समझें।

हमको इस विरोधी तर्क से प्रभावित नहीं होना चाहिए कि राज्य-सम्बन्धी हमारे दृष्टिकोण के अन्तर्गत राज्य की रचना का दार्श-निक उद्देश्य आता ही नहीं। यह एक तथ्य का प्रश्न है। क्या मानव जीवन ऐसी स्थिति में है कि वह अपने स्वभाव से उत्पन्न समस्त संभाव्यताओं को प्राप्त कर सकता है, ? क्या राज्य उसे ऐसी अधिकार-योजना देगा, जिसके बिना, जैसा मैंने दिखलाने का प्रयत्न किया है, ऐसी प्राप्ति असम्भव है ? राज्य की यथार्थ प्रकृति जानने का इसके अलावा दूसरा तरीका नहीं है। कोई भी व्यक्ति ईमानदारी से नहीं कह सकता कि सन् १७८६ के पहले का फ्राँसीसी राज्य, या, १६१७ के पहले का रूसी राज्य, ऐसे वैध निर्देशों तथा आवश्यक कर्तव्यों को लेकर चलते थे जिनका लक्ष्य समूची प्रजा का कल्याण करना रहा हो तथा उनकी जनता भी यही मानती रही हो कि उन निर्देषों का लक्ष्य जन-कल्याण की खोज है। यदि उत्तर मिलता है कि राज्य की नीयत को अच्छा मानना ही चाहिए और यह स्वीकार करना चाहिए कि वह जो कुछ करता है, अच्छा से अच्छा काम करने की नीयत से करता है, तो मेरा उत्तर केवल यही होगा कि इसका निर्णय वे ही कर सकते हैं जो राज्य के कामों का फल भोगते हैं। सन् १७८६ में फ्रैञ्च जनता ने तथा सन् १६१७ में रूसी प्रजा ने यह निश्चय किया कि जिस प्रणाली में वे रहते हैं, वह उनकी उचित तथा वैध माँगों की पूर्त्ति नहीं कर सकती। मैं नहीं जानता कि ऐसा निर्णय और किसी अन्य उपाय से कैसे बदला जा सकता है या ऐसे निर्णय को कैसे रद्द किया जा सकता है।

IV

किसी राज्य के परमादेशों को न्यायोचित तभी सिद्ध किया जा सकता है यदि उनका निर्माण उन आदेशों को ध्यान में रखते हुए किया जाय जिनको प्राप्ति की राज्य चेष्टा करता है । यदि राज्य से हम ऐसी आशा करते हैं तो शासन एक प्रन्यास है और इसकी सिद्धि कहाँ तक हो रही है इसका निर्णय वे ही कर सकते हैं जो शासन के कार्य-परिचालन से लाभ की आशा करते हैं ।

अन्ततोगत्वा, कोई भी शासन कुछ व्यक्तियों का एक समुदाय है जो राज्य के नाम पर अपने सह-नागरिकों को आज्ञा देता है । इनके हाथ में इस शक्ति का बना रहना उनके बुद्धिमतापूर्वक आज्ञा देने पर निर्भर करेगा । अधिक या लघु गुरुत्व की अगणित माँगों से वे घिरे रहते हैं और ये सभी माँगें उनसे अपनी पूर्ति की आशा करती हैं । शासन के रूप में, उनके कार्यों की बुद्धिमानी अधिक से अधिक की माँग पूरी करने की योग्यता पर निर्भर करेगी । अधिक से अधिक माँग पूरी करने के लिए यह जरूरी है कि वे अपनी प्रजा के दिल और दिमाग से जितनी ज्यादा जानकारी रक्खेंगे, उतना ही अधिक वे उचित नीति का निश्चय करने के तह तक पहुँच सकेंगे । इसीलिए समाज में स्वतंत्रता तथा समानता अपना महत्व रखती है । स्वतंत्रता के द्वारा ही माँगों की रूपरेखा तय्यार होती है और वे पेश की जाती हैं, समानता हमें यह विश्वास दिलाती है कि कि इन माँगों की निष्पक्ष रूप से नाप जोख होगी ।

अधिकारों की जिस प्रणाली का मैंने वर्णन किया है, यदि वे क्रियात्मक रूप से राज्य में चालू हैं, तो वहाँ स्वतंत्रता और समानता रहेगी ही । किन्तु यदि मनुष्य सामाजिक प्राणी है तो यह भी सत्य है कि राजनैतिक दृष्टि से वह परम्परा से आबद्ध गतिहीन जीव है ।

बिरले ही, व्यक्तिगतरूप से, वह अपनी शक्ति को जानता है। इससे भी अधिक बिरले ही, व्यक्तिगत रूप से ही, ऐसी शक्ति का बोध होने पर भी, अपनी आवश्यकताओं के प्रति ध्यान आकर्षित कर पाता है। इस युग के राज्य की विशालता में उसकी आवाज जंगल में रुदन के समान है। अपने विचार के लोगों के साथ मिल कर संगठित हो जाने पर ही वह अपनी माँगों को सबल कर सकता है और तभी इनका प्रभाव पड़ सकता है। इसलिए संघ प्रारम्भिक महत्व रखते हैं। इनके द्वारा ऐसे अनुभवों की विशेषता सब पर प्रकट होती है जिन पर अन्यथा ध्यान भी नहीं दिया जा सकता था। संघ मनुष्यों के स्वतः कृत प्रदानों का मूर्त्त रूप हैं जिनके द्वारा वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करना चाहता है। ऐसे सभी प्रयत्न या संघ राज्य के काम के नहीं होते। उदाहरण के लिए, क्रिकेट क्लब में कोई राजनैतिक प्रसङ्ग नहीं होता। किन्तु अनेक संस्थाओं अथवा संगठनों की सफलता अपने प्रयत्नों को राज्य के नियम यानी कानून में परिणत करने पर निर्भर करती है। मिल मालिक संघ, श्रमिक संघ, राष्ट्रीय थियेटर (नाटक कला प्रदर्शन) को उन्नत करने वाली संस्था—सभी यह प्रयत्न करते हैं कि उनका संकल्प राज्य के संकल्प का एक अंग बन जाय। राज्य द्वारा निर्मित्त वैध-प्रमा आदेशों के तत्व में परिवर्त्तन के प्रयत्न में ही उनकी सत्ता की उपत्ति निहित है।

स्वेच्छाकृत संघ अपने सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरी करने की शक्ति के बल पर ही जीवित रहते हैं। राज्य उनको जीवन नहीं प्रदान करता। बहुधा वे राज्य की उपेक्षा पर भी जीवित रहते हैं—जैसे सन् १८२४ के पहले ब्रिटिश श्रमिक संघ। मानव के अनुभवों से ज्ञात आवश्यकताओं को वे आप से आप अभिव्यक्त करते रहते हैं। और समाज का जीवन इतना विस्तृत है कि अगर उचित हो तो भी, केवल राज्य द्वारा वह नियंत्रित अथवा शासित नहीं हो सकता। अतएव

समाज का बहुत कुछ सञ्चालन इन संस्थाओं द्वारा होता है। अवश्य यह तर्क हो सकता है कि जिस समाज में भिन्न प्रकार के जितने अधिक सामुदायिक जीवन हैं, उतनी ही अधिक समुचित मात्रा में उसकी इच्छाओं की पूर्त्ति होगी। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि राज्य जितना कम इन संस्थाओं के जीवन में हस्तक्षेप करता है, उतना ही अधिक दोनों का—राज्य तथा संस्थाओं का—कल्याण होगा। इन संस्थाओं अथवा संगठनों के ऊपर केवल नाम मात्र का तथा बिना हस्तक्षेप का प्रभुत्व रहे। राज्य यह स्वीकार करे कि उन्हें अपनी सत्ता रखने का स्वत:सिद्ध अधिकार है। राज्य यह स्वीकार करे कि जीवन के ऐसे पहलू भी हैं, जैसे धर्म, जिनमें उसका अपनी महत्ता पर जोर देना सामाजिक हानि करेगा। क्योंकि जहाँ तक मौलिक विश्वासों का सम्बंध है, नागरिकों ने मिलकर अपने मन से, अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए जो संस्था बना रखी ह, उसके सामने राज्य का आदेश सारहीन और अर्थरहित होगा। इस सम्बन्ध में, राज्य के प्रभुत्व में वैसी भावुकता का ओज नहीं होता जिससे वह प्रभावशाली तथा सफल भक्ति प्राप्त कर सके।

इससे यह भी प्रकट होता है कि स्वभावानुसार, हरेक समाज मूलत: संघशील होता है। राज्य भी, अपने नियमित कानूनों के अतिरिक्त, अन्य संस्थाओं के समान है, उनमें से एक है। उनके ऊपर नहीं है। अन्य संस्थायें अपने सदस्यों के लिए जो निर्देश जारी करती हैं, उनके साथ रचनात्मक सम्बन्ध होने के कारण ही राज्य के वैध निर्देश सफल होते हैं। राज्य को चाहिए कि समाज को अधिकतम सन्तुष्टि करने वाली माँगों को समझकर, जानकर, उनके अनुकूल विधि का निर्माण करे। और वह तभी ऐसा कानून बनाने का प्रयास करे जब उसने उस कानून के कार्यरूप में परिणत होने पर जिन लोगों पर असर पड़ने वाला है, उनकी सम्मति भी प्रतिनिधि रूप में ठीक से प्राप्त कर

ली हो। क्योंकि सफल कानून, प्रायः सदैव वही होता है जिसके प्रयोग के समय, शासन के लिए उपलब्ध अधिकतम अनुभवों का समुच्चय हो। उदाहरण के लिए, यह सभी को मालूम है कि ब्रिटेन में स्वास्थ्य के बीमा की महान योजना की सफलता इसीलिये है कि योजना बनाने के पहले, पग-पग पर मेडिकल असोसिएशन्स तथा अन्य स्वीकृत संस्थाओं से परामर्श किया गया। कोई कानून इसलिये सफल है क्योंकि शासन के हर पहलू से, उसके सम्बन्ध में अनुभव रखने वाले तथा उसके प्रभाव में आने वाले लोगों को उसकी उपयोगिता का विश्वास दिला दिया गया है। ऐसे विचार-विमर्ष से यदि तत्सम्बंधी वर्ग की स्वीकृति न भी प्राप्त हो तो भी उन्हें यह सन्तोष रहता है कि निर्णय के पूर्व उनके ज्ञान का उपयोग किया गया तथा उनके अनुभव की नाप-तौल हुई। संकल्प की छाप राज्य ही लगाता है, पर छाप लगाने के पूर्व की क्रिया सम्बंधित नागरिकों को ऐसा बोध नहीं होने देती कि राज्य उनसे ऊपर है या उनके विरुद्ध है। कानून बनाने की क्रिया में सक्रिय तथा अन्तरंग भाग लेने के कारण नागरिकों में रचयिता की भावना आ जाती है।

मेरा कहना है कि इस उदाहरण से एक महत्वपूर्ण सत्य का पता चलता है। चूँकि समाज मूलतः संघशील है, इसलिए विधि का अद्वैतात्मक रूप जितनी अधिक मात्रा तक केवल औपचारिक रह सकता है उतना ही समाज के लिए कल्याणकर होगा। भिन्न स्वार्थों के समुदाय—जिनको हम संस्थायें कहते हैं, राज्य की प्रणाली से जितना ही अर्न्तसम्बन्धित होंगे, उतना ही अधिक प्रभावशील उसे बनाये जाने वाले कानून का तत्व ही न होगा, बल्कि कार्य रूप में कानून भी होगा। हमको यह मान लेना चाहिए कि कोई भी सरकार, जो वैधानिक रूप से चुनी गई है, जब तक सरकार है अपने निर्णय करने के अधिकार को छोड़ने को तैय्यार नहीं होगी। किन्तु, कोई भी

सरकार इस प्रकार से वैसी सरकार नहीं रह सकती जो अपने नागरिकों को विश्वास दिलाती रहती है कि वह उनकी माँगों को पूरा करने में प्रयत्नशील है। और, समाज में स्वयं संगठित संस्थाओं का स्थान तथा कार्य मान लेने पर, उपर्लिखित विश्वास उत्पन्न करने का सबसे अच्छा तरीका है कि शासन की क्रिया से इनका प्रत्यक्ष और आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय। अपने जीवन से सम्बन्ध रखने वाली चीजों में परिवर्त्तन करने के समय जिन लोगों से सलाह नहीं ली जाती, वे उस परिवर्त्तन के औचित्य के सम्बन्ध में वैसा विश्वास कर ही नहीं सकते। उसकी सम्भावनाओं के सम्बन्ध म उनकी वैसी अच्छी धारणा नहीं हो सकती। इनसे कहीं अच्छी धारणा उनकी होती है जिनके अनुभव की बात अस्वीकार कर दी गई हो, फिर भी जिनको यह संताष होता है कि उनके तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण को जानने का सच्चा प्रयत्न किया गया है। आजकल की सरकारों की असफलता का एक बड़ा कारण यह भी है वे समाज की संस्थाओं के विपरीत चलने लगती हैं और अपनी प्रगति में उनको भी अपना अङ्ग बना कर नहीं ले चल सकतीं।

इस अनुमान से हम एक दूसरे सिद्धान्त पर पहुँचते हैं जो कि अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चूँकि समाज का स्वभाव संघशील है, अतः राज्य में शक्ति जितनी ही विस्तृत रूपेण विकरित होगी, उतना ही उसका कार्य परिचालन सफल होगा। तीन मौलिक कारणों से ऐसा होना चाहिए। सबसे पहली बात तो यह है कि जितने ही अधिक आदमियों की कानून के परिणाम के प्रति जिम्मेदारी होगी, उतना ही अधिक वे उसके परिणाम में रुचि लेंगे। अत्यधिक केन्द्रीभूत सत्ता वाले राज्य में आज्ञापालन स्यात् ही रचनात्मक या परिणामदायक होता है। प्रजा, यंत्र की तरह, गतिहीन रूप से निर्देशों का पालन करती है और आपत्काल में जो उत्तरदायित्वपूर्ण सहयोग सदा

आवश्यक होता है, वह आवश्यकता पड़ने पर नहीं पाया जाता। केन्द्रीकरण से एकरूपता हो जाती है, उसमें समय तथा स्थान की प्रतिभा का अभाव होता है, यह दूसरी बात हुई। उसके कार्य का क्षेत्र इतना विस्तृत हो जाता है कि उसमें प्रयोग करना कठिन है, क्योंकि असफलता का मूल्य इतना महँगा पड़ता है कि शासन नई बातों की ओर आकृष्ट नहीं होता। ऐसे शासन का पहला उसूल होता है कि कम से कम भूल करें। अन्त में केन्द्रीकरण का अर्थ यह होगा कि शासन में समय की (समयाभाव की) समस्या का कोई हल नही निकाला जा सकता। मंत्रिमण्डल या व्यवस्थापक सभा जैसी संस्थाएँ दिन में कुछ निश्चित घन्टे तक ही काम कर सकती हैं। केन्द्रीभूत प्रणाली में वे अनगिनत समस्याओं तथा भिन्न कार्यों से लदी रहती हैं। इस दबाव का मतलब यह होता है कि बहुत सी ऐसी जरूरी चीजें जिन पर ध्यान देना चाहिये, कभी नहीं देखी जातीं और प्रायः जिस बात पर पूरी तौर से विचार करना चाहिए, वह जल्दी से ही तय हो जाता है। ब्रिटेन की राजनैतिक संस्थायें, इस समय, ऐसी परिस्थिति के खतरे की एक प्रमुख मिसाल हैं। जो पार्लामेन्ट भारत-वर्ष के शासन के लिए जिम्मेदार थी, साधारण तौर पर साल में केवल दो दिन उस पर विचार कर सकती थी। मंत्रिमण्डल हाउस आफ कामन्स में पेश होने के कुछ ही घन्टे पहले वार्षिक आय-व्यय देख पाता है।

आज से सौ वर्ष पूर्व अधिकार का केन्द्रीकरण उतना खतरनाक नहीं था जितना कि आज है। केवल इसलिये कि उस समय राज्य का कार्य-विस्तार आज से कहीं छोटा था परन्तु आज तो, (हमारी तरह) सामाजिक जीवन के हर कोने में उसकी लम्बी अँगु-लियाँ पहुँच जाती हैं—आज शीघ्र और लचीली कार्यवाही अनिवार्य है। पर, मेरी सम्मति में, ऐसी परिस्थिति विकेन्द्रीभूत राज्य को ही

सिद्ध करती है जिसमें उसके कार्य पर्याप्त रूपेण सुसम्बद्ध होते हैं। विकेन्द्रीकरण की समस्या का केवल भौगोलिक रूप ही नहीं है। अवश्य यह जरूरी है कि लन्दन, मैंनचेस्टर, न्यूयार्क, बर्लिन और पेरिस स्थानीय मामलों में केन्द्रीय सरकार के प्रति पूरी तरह से जिम्मेदार होते हुए भी स्वतंत्र रहें, और स्थानीय हित के लिए कोई नया काम करने में उनको अपनी सरकार से आज्ञा न प्राप्त करनी पड़े। पर, यह समस्या कार्यात्मक है। समान स्वार्थ वाले समुदाय, जैसे वस्त्र का उद्योग, अपने समुचित शासन के लिए वैसे ही शासन संस्थाओं की आवश्यकता रखते हैं जैसे कोई नगर। एक ऐसा भी क्षेत्र है जिसमें समुचित संरक्षणों के अन्तर्गत, उनको अपने अनुशासन के लिए वैसे ही नियम बनाने पड़ते हैं जैसा कि वियना या कोई दूसरा नगर अपने लिए बनाता है। सभी नियमों तथा कानूनों को सीमित क्षेत्रों के लिए बनाना यानी न्यायशास्त्र को सीमाबद्ध करना समाज के अन्तर्गत काम करने वाले हितों तथा स्वार्थों को गलत समझना है। जब तक कि हम, हर समय पर राज्य के वैध निर्देशों को हर संस्था के समुचित हितों से सम्बद्ध न कर दें, वे सफलतापूर्वक काम नहीं कर सकते। आज की सभ्यता की बहुत कुछ बुराई या बीमारी इस कारण भी है, कि राज्य की संस्थाएँ (प्रणाली) जिस समाज पर नियंत्रण रखने का प्रयास कर रही हैं उसकी परिवर्त्तनशील परिस्थितियों के साथ, विशेष कर आर्थिक मामलों में, गति नहीं रख पातीं।

V

इस पर्यालोचन को शायद इस तरह थोड़े में कहा जा सकता है कि राजनैतिक दर्शन में आज हमारी सबसे पहली आवश्यकता है राज्य के लिए ऐसा सिद्धान्त बनाना जिससे विधान के निरन्तर समाजीकरण का प्रयत्न होता रहे। आधुनिक राज्य के वैध निर्देश जिस आधार पर

बने हैं, वही उसकी दुर्बलता है। हर सामाजिक योजना की तरह, आज का राज्य, न्याय की एक भावना पर संगठित है। पर. वह भावना व्यक्ति को ही सम्पत्ति का स्वामी समझती है। राज्य उसकी रक्षा को ही अपना सबसे बड़ा काम समझता है। वह १८वीं सदी की भावना का प्रतीक है। सम्पत्तिवान की निरंकुश-शक्ति के आक्रमण से अपनी रक्षा करने की कामना है। इस भावना से जो स्वाधीनता तथा समानता प्राप्त हुई थी, वह सम्पत्ति के स्वामी के लिए स्वाधीनता तथा समानता थी। इस दृष्टिकोण से जो लोग फ्रांस तथा जर्मनी के व्यवहार संहिता की परीक्षा करेंगे, वे इन नियमों के तात्विक सिद्धान्तों से शायद ही यह समझ पायेंगे कि इन देशों में ऐसे नर-नारियों की बहुत बड़ी जनसंख्या थी जिसके पास उसका परिश्रम ही उसकी सम्पत्ति और पूँजी थी। यह उनके संविदा स्वातन्त्र्य की रक्षा करता था, परन्तु सेवायोजकों के विरुद्ध यह अधिकार केवल भ्रममात्र था। आवश्यकता इस बात की है कि समस्त नागरिक समूह के लिए राज्य के वैध परमादेशों द्वारा समान रूप से वास्तविक अधिकार प्राप्त हों।

प्राचीन रोम में विशेष ट्रिब्यून् तथा टैल्व टेबल्स के विधान का संरक्षण प्राप्त करने के पूर्व जैसी अवस्था वहाँ साधारण जनसमूह का थी वैसी हमारी आज है। इन दोनों विधानों द्वारा न्याय की भावना के क्षेत्र को अधिक विस्तृत तथा व्यापक करने का प्रयत्न किया गया था। जिस तरह उस काल में, जन-हीन नर-नारी को कानून की रक्षा नहीं प्राप्त थी, उसी प्रकार आज बिना सम्पति वाला नागरिक उन अधिकारों का भोग नहीं कर सकता जो सिद्धान्त: उसे प्राप्त है। और चूँकि वह अपने बौद्धिक तथा आर्थिक मुक्ति के प्रति अधिकतम सचेत होता हुआ राज्य से, अधिकारों की स्वीकृति की परिधि में, राष्ट्रीय शिक्षा तथा श्रमिक संघ एसी बातों को मनवा चुका है, अब वह राज्य को बाध्य कर रहा है कि अपनी न्याय-

शीलता की भावना में, उसके हितों का भी उतना ही ध्यान रखा जावे जितना कि सम्पत्तिवान का रखा जाता है। अवश्य इस मार्ग में बाधायें हैं। उसकी माँगों के सामने जो रियायतें की जा रही हैं वे वैसे ही अपूर्ण हैं जैसा रोम में निम्न वर्ग के प्रति किया गया था। किसी एक विषय में भी प्रचलित प्रणाली में समान रूप से परिवर्त्तन नहीं हो रहा है। उदाहरणार्थ, श्रमिक संघ द्वारा निश्चित दशाओं के बाहर किसी व्यक्तिगत श्रमिक के संविदा-स्वातन्त्र्य का संरक्षण सेवा योजकों के विशेषाधिकारों को उतना ही संरक्षण देना है जितना कि रोम की विधान सभा में अभिजात वर्ग के बहुमत के कारण उनको प्राप्त था। प्राचीन रोम में फ्लैवियस के समय के पूर्व पांटिफ की सभा ने, कानूनी कार्यों की प्रथा तथा सिद्धान्त को ऐसा रहस्य पूर्ण तथा गुप्त बना दिया था कि साधारण जन उनकी थाह का पता भी नहीं लगा सकता था। उसी प्रकार से आज भी स्मृति शास्त्र में परम्परा तथा पुरानी परिपाटी श्रमिक वर्ग के विपरीत काम करती है।

यह जरूर कहना पड़ेगा कि रोमन कानून ने जन्मना, साधारण-जन की जो अधिकारहीनता थी, उससे आंशिक रूप में उसे छुटकारा दिलाया। वही हमारे साथ हो रहा है। नयी आर्थिक व्यवस्था वैध निर्देशों में तात्विक परिवर्त्तन का संकल्प लेकर ही प्रकट होती है। बिना ऐसे परिवर्त्तन के नयी व्यवस्था हो नहीं सकती। वह राज्य को बाध्य करती है कि उसकी माँगों को स्वीकार कर ले अन्यथा वे वैध निर्देश में सम्मिलित न किए जायँगे। नयी आर्थिक व्यवस्था का अर्थ है व्यापक मताधिकार। व्यापक मताधिकार का अर्थ होता है जनसमूह द्वारा राजनैतिक संस्थाओं से काम लेने की शक्ति पर विजय प्राप्त करना। अवश्य वे इस शक्ति से ऐसा काम लेंगे जिससे उनकी उन आवश्य-कताओं की पूर्त्ति हो जो इसके पूर्व राज्य के स्वभाव के अनुकूल न थीं। उनके शासनाधिकार में वे ही चीजें न्याय का साधारण तथा

स्वाभाविक अंग प्रतीत होती हैं जो कि एक पीढ़ी पहले के राजनीतिज्ञों द्वारा असम्भव समझी जाती थीं। नयी व्यवस्था वाले अपने बहुमत के अनुकूल नियम समाज पर उसी प्रकार लागू करते हैं जिस प्रकार उनके पहले के लोग अपने लिए करते थे। नियम, नैतिकता तथा धर्म जीवन की नयी स्थिति में उसी प्रकार चल पड़ते हैं जिस प्रकार अन्य वर्गों के शक्तिवान होने पर। पहले की सामाजिक योजना में जिस प्रकार तत्कालीन कुछ धारणाओं का आदर होता था, उसी प्रकार, अपनी आवश्यकताओं की बातों में वे आदर की भावना उत्पन्न कराते हैं। जिस वर्ग का राज्य पर आधिपत्य होता है वह केवल अधिकारच्युत के शोषण का अधिकार ही नहीं चाहता अपितु वर्त्तमान सोवियत रूस के समान वह यह भी चाहता है कि उसका शोषण न्यायोचित समझा जाय, तथा अपहृत वर्ग उन सिद्धान्तों की न्यायशीलता को स्वीकार करे जिनके द्वारा उनको अधिकारच्युत किया गया है। इसी प्रकार, पुराने जमाने में सम्पत्ति पर आक्रमण सबसे बड़ा पाप समझा जाता था। वह समाज उस व्यक्ति को सम्मानपूर्ण तथा आदरणीय समझता था जो अपने बाल-बच्चों को भूखा रख सकता था पर अपने पड़ोसी की सम्पत्ति पर आँच नहीं आने देता था।

आज जो हो रहा है, वह कानून के क्षेत्र का विस्तार है। अधिकारों की जिस योजना को मैंने आधुनिक सामाजिक परिस्थिति में, अन्तर्निहित सिद्ध किया है, उन्होंने नैतिक दावे से बदल कर वैधानिक कर्त्तव्यों का ठोस रूप धारण कर लिया है। इसी उद्देश्य के लिए राज्य जानबूझकर निजी सम्पत्ति को छीन लेता है। जो सुख-सुविधा सम्पत्ति रखने वाले को सुलभ थी, बिना राज्य की सहायता के उन सुख-सुविधाओं को भोगने वालों के मूल्य पर राज्य उनको जनसमूह के लिये सुलभ कर रहा है। आर्थिक शक्ति की सत्ता के सम्बन्ध में परिवर्त्तित भावना के कारण, नवीन समाज में व्याप्त न्याय की

विस्तृत विचार धारा के कारण ही आज अधिकारों की ऐसी अनुभूति हो सकी है तथा उन्हें प्राप्त किया जा सका है ।

इस सम्बन्ध में दो अंतिम बातें कह दी जायँ । यह मानने का कोई कारण नहीं है कि ऐसा परिवर्त्तन अनिवार्य है और न हम ही इसकी शान्तिमय सफलता पर अवश्य ही भरोसा कर सकते हैं। पहली बात के बारे में तो हम यही कह सकते हैं कि आर्थिक विकास के वर्त्तमान रूप का अर्थ होता है जन-समूह को अधिकार प्राप्त हो जाना । इस अधिकार परिवर्त्तन से वैध निर्देश एक छोटे से वर्ग की तुलना में समूह के हितों पर जोर देंगे । पर, यदि आर्थिक प्रणाली किसी नवीन दिशा में यकायक पलट जाय तो जिनके हाथ में अधिकार आ जायगा, वे अधिकारों के तत्व को अपने स्वार्थ में परिवर्तित कर देंगे ।

आर्थिक व्यवस्था में परिवर्त्तन की शान्तिमय सफलता पर हम कदापि भरोसा नहीं कर सकते। न्याय-अन्याय के विषय में आदमी अपने विचारों से चिपटे रहते हैं। आप से आप वे शक्ति को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। वैधानिक अधिकार तथा राजनैतिक शक्ति में सम्बन्ध स्थापित रखने के लिए जो निरंतर रियायतें की जाती रहती हैं उन्हीं से शान्ति कायम रहती है । जिस शासन विधान में ऐसा सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता, नयी व्यवस्था अपनी इच्छा को लागू करने के लिए शक्ति से काम लेती है । ऐसे परिवर्त्तन का घातक परिणाम हो सकता है—क्योंकि आधुनिक सभ्यता ऐसे जटिल तथा सुकुमार आधारों पर निर्भर है कि किसी बड़े परिणाम में हिंसा के प्रयोग के पश्चात् उसका जीवित रहना सम्भव नहीं। इसलिए तर्क कहता है कि लगातार सुधारों की नीति बर्त्ती जाय। पर आदमी पूरी तरह से बुद्धि से काम करने वाला प्राणी नहीं है । हमें इस बात का कोई भरोसा नहीं है कि बुद्धिमत्ता की विजय होगी ।

तीसरा अध्याय

राज्य का संगठन

I

राज्य के संगठन की समस्या इसकी प्रजा तथा विधि के मध्य सम्बंध की समस्या है। प्रजा विधि के बनाने में भाग ले सकती है, इस दशा में भिन्न मात्रा में, राज्य प्रजातंत्र होगा या, बिना प्रजा के भाग लिए नियम उसके ऊपर लागू कर दिए जायँ, जिस दशा में, भिन्न मात्रा में ही, राज्य निरंकुश होगा ।

दोनों प्रकार के संगठन अपने शुद्ध रूप में नहीं रह सकते । पूर्ण प्रजातंत्र हरेक विचारणीय विषयों पर समूची जनता से परामर्श करेगा । निरंकुश शासन राज्य में, समूची योजना को स्वयं बनायेगा और लागू करेगा । आज जितने विशाल समुदाय हैं, उनको देखते हुए दोनों ही बातें इस आधार पर असम्भव मालूम होती हैं ।

साधारण जीवन में हम राज्य का संयुक्त रूप देखते हैं । कुछ राज्यों में, जैसे फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन में, प्रजातंत्रीय तत्व की प्रबलता होती है, दूसरे राज्यों में, जैसे रूस और स्पेन में, निरंकुशता पर जोर होता है । हर प्रकार का मिश्रण सम्भव है । कोई प्रजातंत्रीय-रूपेण प्राप्त निर्णय निरकुंश कार्यकारणी-समिति द्वारा रद्द किया जा सकता है । यह भी हो सकता है कि स्विटजरलैंड की तरह, निर्वाचकों द्वारा चुनी गई विधान सभा कार्यकारणी पर पूरा प्रभुत्व रखती हो । या संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह, विधान सभा तथा कार्यकारणी दोनों के अधिकारों का निर्णय न्यायपालिका के हाथ में हो जो स्वयं संविधानिक संशोधनों के अधीन है ।

किसी राज्य के वास्तविक स्वरूप का निर्णय उसकी ऐतिहासिक परम्पराओं पर निर्भर करेगा। उसके जीवन पर, जनता के अनुभवों की जो सुन्दर छाया की छाप होती है उसके कारण यह कहना कठिन हो जाता है कि कौनसा प्रकार किससे अधिक अच्छा है। सामान्यतः हम यही कह सकते हैं कि निरंकुश शासन प्रणालो की तुलना में प्रजातंत्रीय शासन प्रणालो अधिक उपयुक्त है, कम से कम पश्चिमी सभ्यता के स्वभाव का विचार करते हुए। अन्य कमजोरियों के होते हुए भी प्रजातंत्र वैध निर्देशों की रचना में अधिक से अधिक जन समूह की माँग का ध्यान रखता है। इन निर्देशों के कार्य परिचालन की आलोचना ही उनके जीवन का आधार होती है। जिम्मेदारी की भावना को बढ़ा कर उनके उपक्रम को बढ़ाती है। इसमें राज्य के नागरिकों में केवल निर्णयों में भाग लेने की ही भावना नहीं पैदा होती बल्कि उसके तत्वों को प्रभावित करने का अवसर भी प्राप्त होता है। यह मान लेने पर भी, और अनुभव से ऐसा प्रकट भी होता है, कि निरंकुश प्रणालो की तुलना में प्रजातंत्रीय प्रणाली बहुत धीरे काम करती है, और यह भी केवल इसलिए कि उसे भिन्न प्रकार की इच्छाओं को साथ लेकर चलना पड़ता है, ऐसी दूसरी कोई संगठन की प्रणाली नहीं है जो राज्य के आवश्यक सैद्धान्तिक उद्देश्यों की पूर्ति कर सके।

पर, केवल यह कह देने से कि राज्य का प्रजातंत्रीय रूप होना चाहिए, उसके ऐसे रूप को व्यक्त करने वाली संस्थाओं का निर्णय नहीं हो जाता। क्योंकि व्यापक रूप से यह कहना असत्य नहीं है कि किसी भी ढर्रे के प्रजातंत्र को अभी तक अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त संस्थायें मालूम नहीं हुई हैं। किसी प्रकार के वैध परमादेश सम्बन्धी योजना की समीक्षा करने पर तीन प्रकार के अधिकार की आवश्यकता प्रतीत होती है—(१) हमको ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जो उन सार्वजनिक नियमों को निर्धारित करें जिनको समस्त

नागरिकों पर लागू किया जायगा या समूह के एक ऐसे अंग पर लागू किया जायगा जिनके हित स्पष्टतः मालूम हैं तथा जो हित समूह के हित से भिन्न हैं। ऐसी संस्थाओं का रूप विधायी होगा। वे या तो "पार्लमेण्ट सहित सम्राट्" की तरह (ब्रिटेन में) संप्रभु-विधायिनी सभा हो सकती हैं या किसी नगर की म्युनिसिपल कौंसिल हो सकती हैं जिनके कार्य की सीमा संप्रभु संस्था के नियम द्वारा निर्दिष्ट हो। (२) हमको ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता होगी जो विधायिनी सभा के अन्तर्गत काम करेंगी, तथा उनके द्वारा निर्धारित नियमों को कार्य में परिणत करेंगी। इस प्रकार की संस्थाओं के संबन्ध में तात्विक बात यह है कि वे, आमतौर पर, कार्य करने की अपनी क्षमता का स्वयं निर्णय नहीं कर सकती हैं, जिस सिद्धान्त के अनुसार वे काम करती हैं, वह विधायिनी सभा द्वारा तय होता है और साधारणतः वे उसी के प्रति जिम्मेदार होती हैं। ऐसो विधान सभा ने उनके अधिकार की जो मर्यादा निर्धारित की है, उसी के भीतर काम करती हैं। राजनैतिक जीवन के ढाँचे को बनाने वाले वैध परमादेशों को कार्यरूप में परिणत करना ही इनका काम होता है। (३) इसके अलावा, हमको ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जो दो प्रकार के विवादों को तय करती रहें। नागरिकों तथा शासन करने वाली कार्यकारिणी में विवाद हो सकता है। नागरिक कह सकता है कि कार्यकारिणी का अमुक कार्य उसके अधिकार की परिधि के बाहर है। स्पष्ट है कि यदि कार्यकारिणी अपने अधिकार की सीमा का निर्णय कर सकती है तो जिन वैध परमादेशों ने उसे जीवन प्रदान किया है, उसी की स्वामिनी बन जायगी। अतएव कार्यकारिणी से स्वतंत्र एक संस्था को ऐसे विवादों के निर्णय का काम देकर, स्वतंत्र फैसला प्राप्त किया जा सकेगा और कार्यकारिणी के अधिकार को स्वतंत्र रूप से आँका जावेगा। दूसरे विवाद स्वयं नागरिकों में परस्पर हो सकते हैं। अ का कहना है कि ब ने उसे हानि

पहुँचायी है। यह तय करना जरूरी है कि अ जिस व्यवहार के विरुद्ध शिकायत करता है, वह राज्य के वैध निर्देशों द्वारा वर्जित है या, नहीं। यदि वह राज्य के वैध निर्देशों द्वारा वर्जित है तो यह भी जरूरी है कि विधि के अन्तर्गत उचित दण्ड तय किया जाय।

ऐरिस्टॉट्ल से समय से ही, राजनैतिक दर्शन का यह निरंतर दावा रहा है कि हर सुसंगठित समाज में ये तीनों संस्थाएँ एक दूसरे से कार्य करने में स्वतंत्र हों, तथा इनमें काम करने वाले भी पृथक व्यक्ति हों। माँटेस्क्यू ऐसे विचारकों का यहाँ तक कहना है कि इनको एक दूसरे से अलग करना ही राजनैतिक स्वतंत्रता का रहस्य है।

इस विषय में इतना कठोर विचार हम शायद ही मान सकें। कोरे सिद्धान्त के विचार से, पहले तो, यह काफी तर्कपूर्ण बात है कि न्याय का काम विधान सभा का समझा जाय, इसलिए कि कानून का अर्थ सबसे अच्छी तरह वही संस्था जान सकती है जो कानून बनाती है। व्यवहार में, इन तीनों कामों में कठोर भेद रखना सम्भव नहीं होता। विधायिनी अपना काम पूरा कर ही नहीं सकतीं यदि वे कार्य-पालिका के काम में हस्तक्षेप करने का अधिकार न रखती हों तथा अवसर आने पर, न्यायाधीशों के उन फैसलों को, जिनका परिणाम घोर असन्तोष पैदा करता हो, विधान बनाकर रद्द कर देने की शक्ति न रखती हो।

विधि को कार्यान्वित करने में, कार्यकारिणी निश्चय ही सामान्य सिद्धान्तों को विस्तार का परिधान पहनाती है, और आधुनिक राज्य में यह कार्य इतना विस्तृत क्षेत्र ढँकता है कि बहुधा इसे विधान-कार्य से पृथक करना कठिन हो जाता है। अन्त में, न्यायपालिका जो कार्य-कारिणी के अधिकार क्षेत्र का (इस दशा में यह विधायी संकल्प के सार का निश्चय करती है) या दो नागरिकों के मध्य विवाद का निर्णय करती है (इस दशा में यह राज्य के वैध-परमादेशों के अधीन नवीन क्षेत्र को लाती है अथवा यह निश्चय करती है कि यह नवीन

क्षेत्र इन परमादेशों के अधिकार के बाहर है) वास्तव में ऐसा कार्य कर रही है जो विधायी है ।

इङ्गलैण्ड और अमेरिका में, उदाहरण के लिए, जिसे न्यायाधीश-निर्मित विधि करते हैं, वह संविधि से अधिक व्यापक क्षेत्र में, लागू होता है । अमेरिका में सभी विधान सभाएँ असंप्रभु हैं क्योंकि उनकी शक्ति का स्रोत लिखित संविधान है जिसको वे बदल नहीं सकतीं । यहाँ पर न्यायाधीश शासन विधान की परिभाषा करता है और जब विधान सभा के किसी नियम को या कार्यकारिणी की आज्ञा को चुनौती दी जाती है तो वही फैसला देता है । इसलिए विधान सभा की तुलना में उसकी शक्ति कहीं अधिक है क्योंकि विधायी-अधिकार की सीमा को निर्धारित करने वाला प्रमुख कारक न्यायिक संकल्प है ।

इन भिन्न संस्थाओं की पृथक समीक्षा करने के पहले, दो सामान्य सिद्धान्तों पर विचार कर लेना चाहिए । हरेक सु-व्यवस्थित राज्य का एक संविधान होता है जो यह निश्चय करता है कि अन्ततोगत्वा, वैध परमादेश किस प्रकार बनाये जावें । ऐसे संविधान का दो प्रकार से वर्गीकरण हो सकता है—लिखित तथा अ-लिखित और आनम्य तथा अनानम्य । उदाहरण के लिये, संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में विधायिनी कार्यकारिणी तथा न्यायालय के सम्बन्ध निश्चित किए गये हैं । इनमें से किसी को भी कोई कार्य करने का तभी अधिकार है जब वे उस लिखित संविधान की तत्सम्बंधी धारा से अपना, अध्यर्थन सिद्ध कर सकें । दूसरी ओर ब्रिटिश संविधान है जो सविधि न्यायालय के निर्णय, अलिखित प्रथाओं और परम्पराओं आदि का समूह है । इनके वास्तविक सम्बन्ध का निर्णय नियमित रूप में केवल इसी बात से होता है कि "पार्लामेण्ट-सहित नरेश" जब उचित समझे इनको बदलने की शक्ति रखता है । पारिभाषिक पदों में,

साधारण विधान तथा संविधानिक विधान एक ही स्तर पर हैं। उदाहरण के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका की कांग्रेस प्रेसिडेण्ट के अधिकारों में परिवर्त्तन करने की शक्ति नही रखती। पर, "पार्लिमेण्ट-सहित-नरेश" जब उचित समझे, कार्यकारिणी की शक्ति में परिवर्त्तन कर सकता है। आधुनिक जगत में अब लिखित संविधान की आम प्रथा चल पड़ी है। अब यह धारणा है कि राज्य में शक्ति का विभाजन इतनी महत्वपूर्ण बात है कि उसको ठीक रूप देने के लिये लिखित संविधान का होना जरूरी है। सब बातें सोचने पर, अनुभव यही बतलाता है कि इस विचार में तत्व है। क्योंकि, कुछ संविधानिक सिद्धान्त इतने महत्वपूर्ण हैं कि उनकी महानता शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। इसके अलावा यह भी सही है कि संविधान का अनानम्य होना अवांछनीय है। समुदाय की आवश्यकतायें बदलती रहती हैं। इन आवश्यकताओं के परिवर्त्तन के साथ इनका बाहरी ढाँचा भी बदलना आवश्यक है। अमेरिकन संविधान की अनानम्यता कुप्रसिद्ध है। इसमें तभी परिवर्त्तन हो सकता है जब कांग्रेस के दोनों सदनों का दो-तिहाई बहुमत स्वीकार करे, तथा सात वर्ष के भीतर, संघ के अर्न्तगत तीन-चौथाई राज्यों की सम्मति प्राप्त होनी चाहिये। अनुभव बतलाता है कि परिवर्त्तन की प्रणाली को इतना कठिन बना देने से, जरूरत पड़ने पर, जरूरी रद्दोबदल नहीं की जा सकती। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में मौलिक अधिकार-वितरण इस प्रकार हो गया है कि आज के राज्य के लिये आवश्यक समान रूप से लागू होने लायक श्रमिक-विधान या वैवाहिक नियम भी नहीं बन सकते। संघ के किसी पिछड़े राज्य में, प्रतिक्रियावादी मालिक अनुचित रूप से लाभदायक स्थिति में रहेगा। अमेरिकन संविधान में "पूर्ण विश्वास तथा प्रतीति" की धारा के कारण, व्यवहारिक रूप में धनी वर्ग को जो सरलता विवाहविच्छेद की है, उतनी निर्धन के लिये सम्भव नहीं

है। इन अनुभवों का यही निचोड़ निकलता है कि एक लिखित संविधान होना चाहिये जो आसानी से बदला जा सके। सब बातों को ध्यान में रखते हुए, श्रेष्ठ उपाय तो यह होगा कि विधान सभा ही संविधान में संशोधन कर दे, पर जोर इस पर देना चाहिये कि सदस्यों की अत्यधिक संख्या, उनकी संख्या का विशिष्ट तथा अनुपात, प्रस्तावित परिवर्त्तन का समर्थन करे।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि प्रजातंत्रीय प्रणाली में, उपक्रम तथा जननिर्देश की व्यवस्था होनी चाहिए। कहते हैं कि यदि जनता का काम वैध परमादेशों के बनाने में केवल इतना ही है कि वह उन प्रतिनिधियों को चुने जो कि उनके सार के लिये उत्तरदायी हैं तो यह अपने जीवन का असली सञ्चालन नहीं कहा जा सकता। उपक्रम के द्वारा सार्वजनिक संकल्प निश्चित आकार ग्रहण कर सकता है। जननिर्देश से जनता अपने प्रतिनिधियों को वे काम करने से रोक सकती है जिससे वह सहमत नहीं हैं। यह दावा किया जाता है कि प्रत्यक्ष शासन प्रतिनिधि प्रणाली का आवश्यक पूरक है, अन्यथा जैसा कि रूसो ने अंग्रेजों के लिए कहा था कि "वे केवल चुनाव के समय स्वतंत्र रहते हैं"।

पर मैं यह बतला दूँ कि ऐसा कहना जिन समस्याओं का निर्णय करना है तथा जिस परिस्थिति में क्रियाशील रूप में सार्वजनिक सम्मति सबसे मूल्यवान फल प्राप्त कर सकती है, दोनों के रूप के बारे में भूल करना है। आधुनिक राज्य में मतदाताओं की संख्या जरूर ही इतनी विशाल है कि प्रत्यक्ष शासन में लोग हाँ या नहीं के अलावा शायद ही और कुछ कर सकें। सरकार उनसे जो सवाल करेगी, उसके प्रति जन-समूह के रूप में वे इससे अधिक कर ही नहीं सकते। विधान-निर्माण विस्तार की तथा सिद्धान्त की भी चीज है, और निर्वाचक के सामने जो समस्या विचार के लिए रखी जायेगी, उसके विस्तार में वह जा ही नहीं सकता। आधुनिक-सरकार के लिए वास्तव में

प्रत्यक्ष शासन बड़ी बेढंगी चीज होगी। जिस बात पर बहस होनी चाहिए, न हो सकेगी। संशोधनों के रीति की कोई गुञ्जायश ही न रहेगी। सिद्धान्त के बड़े सवाल सार्वजनिक मत के लिए छोड़े जा सकते हैं, जैसे उदाहरण के लिए, बिजली देने का काम निजी उद्योग रहे या राज्य द्वारा हो पर अन्य प्रकार के सवाल ऐसे नाजुक और उलझे हुए होते हैं कि समूची निर्वाचक मण्डली के सामने रख दिये जाने पर, न तो उचित निर्णय करने के लिये उसके पास ज्ञान होगा न रुचि होगी।

इतना ही नहीं। प्रत्यक्ष शासन को चरितार्थ करने के लिए बहुत से प्रश्नों को इसके अनुकूल नहीं बनाया जा सकता, इसके अलावा इस प्रणाली के गौण परिणाम भी असन्तोषजनक होते हैं। उदाहरणार्थ, पार्लमेण्टरी प्रथा से उसका शायद ही मेल हो सके क्योंकि राज्य के नियमों की मौलिक जिम्मेदारी विधान सभा के बाहर हो जाता है। इससे काम की वह सम्बद्धता नष्ट हो जाती है जिससे लोग अपने प्रतिनिधियों के कार्यों की परीक्षा करते हैं। इससे यह धारणा होती है कि व्यवस्थापन की रीति तथा उसके परिणामों के बारे में जनमत है किन्तु, सरकार की असली समस्या यह नहीं है कि निर्वाचकों को ऐसे विषयों पर जिनमें उनकी विशेष जानकारी सम्भव नहीं है किस प्रकार जैसे-तैसे अपनी सम्मति देने के लिये बाध्य किया जाय। समस्या तो यह है कि वैध परमादेश बनाने के पूर्व उसके तत्व को, उससे सम्बन्ध रखने वाले तथा उसके सम्बन्ध में राय देने की क्षमता रखने वाले जन मत से कानून बनाने की रीति का सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जा सके। इसमें प्रत्यक्ष सरकार की आवश्यकता नहीं होती। एक ऐसे उपाय की आवश्यकता है जिससे उस नियम का फल भोगने वालों का उसके सम्बन्ध में विचार जाना जा सके। उदाहरणार्थ, स्वास्थ्य-बीमा की राष्ट्रीय योजना के लिए जन-

निर्देश लेने से ज्यादा जरूरी है डाक्टरों, संघों, तथा ऐसी ही संस्थाओं को राज्य पूरा मौका दे कि विधान सभा में उस पर विचार होने के पूर्व वे अपनी सम्मति प्रकट कर सकें। संक्षेप में, राज्य के कार्य के लिए प्रभावोत्पादक सम्मति वही होगी जो जन समूह में से छाँटकर विशेष ज्ञान रखने वालों से प्राप्त की जाय। सार्वजनिक राय लेने से केवल हानि ही होगी। अनुभव बतलाता है, खासकर स्विटजरलैंड से यह प्राप्त हुआ कि जन समूह परम्परागत आदतों में ऐसा जकड़ा हुआ है कि इसे विधान सभा की शक्ति के ऊपर एक शक्ति के रूप में सुरक्षित रखने से सामाजिक प्रयोग कठिन हो जाते हैं।

III

आधुनिक परिस्थिति में, यदि सभा को अपने निर्वाचकों की ओर से बोलने का समुचित अधिकार रखना है तो मताधिकार व्यापक होना चाहिए। सभा को इतना बड़ा तो होना चाहिए कि सदस्यों का निर्वाचकों से प्रभावशील सम्पर्क बना रहे और इतना छोटा होना चाहिए कि सही ढंग से वादाविवाद हो सके, जैसे रूसी सोवियट सरकार की कांग्रेस के समान बड़ी सभा में वादाविवाद में सम्पूर्ण व्यक्तित्व खो जाता है तथा यह महासभा सत्ताशील दल के संकल्प का पंजीयन-यंत्र हो जाती है। निश्चित समय तथा अवधि के भीतर, जिसे वह साधारण परिस्थिति में बदल नहीं सकती, जनता के सामने इस सभा को फिर से चुनाव के लिए उपस्थित होना चाहिए। यह अवधि इतनी लम्बी जरूर हो कि दो परिणाम निकल सकें—विधान सभा को पर्याप्त कार्य-क्रम के प्रति उत्तरदायी बना सके तथा सदस्यों को इतना अवसर मिले कि वे उसकी कार्य प्रणाली से परिचय प्राप्त कर सकें। किन्तु यह इतनी कम भी हो कि सभा का निर्वाचक से सम्बन्ध न टूटे। सन् १९११ से पूर्व इंगलैण्ड में पार्लामेंट का जीवन सात वर्ष का होता

था। यह इतना लम्बा युग होता था कि सभा जनता की विचारधारा के प्रवाह मे बहुत कम प्रभावित होती थी। इसके विपरीत, संयुक्त राज्य, अमेरिका में "प्रतिनिधि सभा" का दो वर्ष का कार्यकाल काफी छोटा है क्योंकि जैसे ही सदस्य चुना गया, नया चुनाव उसके दिमाग में चक्कर काटने लगता है। इतने अल्पकाल में वह बिरले ही विधायी प्रणाली को समझ पाता होगा। इस विचार करने पर, ऐसा लगता है कि पाँच वर्ष की अवधि इन कमियों को पूरा करती है।

साधारणतः विधान सभा का सदस्य वही चुना जाता है जो किसी दल का समर्थक या अनुयायी होता है। आजकल के राज्य में, निर्वाचन सूची इतनी बड़ी होती है और भिन्न स्वार्थों की संख्या इतनी अधिक होती है कि कोई निर्णय करने के लिए उनको संगठित करना आवश्यक होता है। राज्य में यही काम दल करते हैं। वे विचारों के मध्यग के रूप में काम करते हैं। वे कुछ ऐसे सिद्धान्त चुन लेते हैं जिन पर मतदाताओं की स्वीकृति प्राप्त करने की सम्भावना होती है; इन्हीं सिद्धान्तों का सहारा लेकर ये दल चलते हैं और वादा करते हैं कि अधिकार प्राप्त होने पर उन बातों को कानून का रूप दिलायेंगे। व्यापक दृष्टि से प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली में, जिसमें प्रतिनिधियों द्वारा शासन होता ह दलों का होना आवश्यक है इसके बिना नियमों का सुसम्बद्ध कार्यक्रम नहीं बन सकता, और न विधान सभा में इन नियमों के लिए ऐसा संगठित समर्थन प्राप्त हो सकता है कि वे विधान के अंग बन सकें। इस प्रणाली में दोष होते हुए भी, इसके बिना प्रभावशील नागरिक माँगों से उत्पन्न जीवन के लिए वांछनीय विधि को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया जा सकता।

दलों के विभाजन का राज्य के सदस्यों के मध्य विचारों के विभाजन से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध के अभाव के कारण ही दो सिद्धान्त निर्धारित होते हैं--जिनकी धारणाय आकर्षक होते हुए भी, कार्य रूप में असन्तोषजनक होती हैं। यह स्पष्ट है कि

जहाँ पर, राज्य के जीवन में दलगत शासन की प्रबलता होती हैं, वहाँ पर विचारों के विभाजन की प्रणाली बहुत ही अकृत्रिम होती है। इंगलैंड में अगर केवल अनुदार (कांजर्वेटिव) तथा मजदूर (लेबर) दल ही रह जायँ तो बहुत से लोगों को इनमें से ही एक में शामिल होना पड़ेगा चाहे वे दोनों में से एक साथ भी पूरी सहानुभूति न रखते हों। अतः जनता में प्रचलित भिन्न विचार धारा को प्रकट करने के लिए अनेक दलों की प्रथा ज्यादा अच्छी तरह से काम करने वाली होगी। अतः बहु-दल प्रणाली जिसे समुदाय-प्रणाली भी कहते हैं जनमत के विभाजन से अधिक अनुरूपता रखती है।

पर, जर्मनी (वाइमार) या फ्रांस की तरह समुदाय-प्रणाली के साथ दो घातक परिणाम भी लगे होते हैं। जहाँ पर भी यह प्रणाली काम कर रही है, वहाँ इस बात की जरूरत होगी कि बहुत से समुदायों को मिलाकर ऐसा बहुमत बनाया जाय जिससे विधान सभा में प्राबल्य प्राप्त हो सके। इसका फल यह होता है कि जिम्मेदारी की जगह चतुराई से काम लेना होता है और व्यवस्था देने के लिए जिस गम्भीरता, एकस्वरिता तथा विस्तार के साथ विचार करना होता है वह सब कुछ नहीं हो पाता। दूसरा दोष, जो खास तौर पर फ्रांस में दिखाई पड़ता है, यह है कि समुदायों के बने गुटों की प्रणाली में वास्तविक शक्ति सिद्धान्तों की न होकर कुछ व्यक्तियों में एकत्र हो जाती है। फ्रांस का साधारण मतदाता राजतन्त्रवादी तथा समाजवादी में भेद समझ सकता है, पर इन दो के बीच में ऐसी अनेक पार्टियाँ हैं जिनके भेद को शब्दों द्वारा प्रकट करना कठिन है। इसका फल यह है कि जब इंगलैण्ड की जनता जानती है कि वह किस परिणाम को दृष्टि में रखकर मत दे रही है, जिस दल का वह समर्थन कर रही है, उसकी विजय से किस प्रकार के नियमन तथा व्यवस्था की आशा की जा सकती है—फ्रांस में जब तक उग्र-वामपक्षी या उग्र-दक्षिण

पक्षी का महासभा में बहुमत नहीं होता, जनता की प्रकट इच्छा तथा तत्कालीन सरकार की इच्छा में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। इसके अलावा एक और दोष यह है कि विधान सभा में तत्कालीन सरकार की हार उसके सिद्धान्तों से मतभेद होने के कारण नहीं होती वल्कि भिन्न गुटों में अलग गुटबन्दी कायम करने के संघर्ष के कारण। ऐसी गुटबन्दियाँ इस आधार पर बनती-बिगड़ती रहती हैं कि किस गुटबन्दी को बना लेने से, अधिकार प्राप्त होने पर, उसके सदस्यों को अधिक से अधिक शक्ति का उपयोग करने का अवसर मिलेगा।

ऐसी प्रणाली में एक दोष यह भी है कि तारतम्य या सम्बद्धता न होने के कारण, इस बात पर जोर दिया जाने लगता है कि व्यवस्थापक सभा में हरेक समुदाय का समानुपातिक प्रतिनिधित्व हो। कहते हैं कि प्रत्येक दल की शक्ति निर्वाचकों में उसके समर्थन के अनुसार हो। निर्वाचन की और किसी विधि में मतदाता की व्यक्त इच्छा की अवहेलना होती है। ऐसी स्थिति में सर्व-साधारण की प्रकट इच्छा के प्रतिकूल नियम बन सकते हैं। ग्रेट ब्रिटेन के तरह की चुनाव प्रणाली में जिसमें एक प्रकार से बराबर के निर्वाचन क्षेत्र बना दिये जाते हैं, जिनमें सब से अधिक समर्थन प्राप्त करने वाला उम्मीदवार चुना जाता है, यह दोष हैं कि किसी दल को, समूचे देश भर में प्राप्त समर्थन के अनुपात से कहीं अधिक, विधान सभा में स्थान मिल सकते हैं, और दूसरा दोष यह हो सकता है कि जनता के बड़ भागों को, अपनी संख्या की तुलना में, कोई भी प्रतिनिधित्व न मिले। उदाहरण के लिए, सन् १९२४ के आम निर्वाचन में, ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स में अनुदार दल का बहुत बड़ा बहुमत था जब कि कुल जितन वोट पड़े थे उनके हिसाब के वह काफी अल्पमत में था, और इसी समय लिबरल (उदार) दल को लाखों वोट मिले थे पर वह जितने समर्थकों का

दावा कर सकता था, उसकी तुलना में उसके सदस्यों की संख्या उपहासास्पद थी।

यह स्पष्ट है कि इस आलोचना में वास्तविक तत्व है। किन्तु, हमको सानुपातिक प्रतिनिधित्व के सैद्धान्तिक गुण-दोष पर ही विचार नहीं करना चाहिए पर उसके कार्यरूप पर भी सोचना चाहिए। जहाँ भी कहीं यह प्रथा है, इसके दो विशिष्ट परिणाम हुए हैं: (१) इससे सदैव, पार्टी मैशीन की शक्ति बढ़ी है; (२) विधान सभा में दलों की शक्तियों का ऐसा संतुलन हो जाता है कि प्रायः अल्पमत वालों की सरकार बन जाती है जिससे सुसम्बंद्ध व्यवस्थापन असम्भव हो जाता है या संयुक्त शासन बनाने के लिए बाध्य होना पड़ता है जिससे कार्य में गुटबन्दी वाली प्रणाली के समान ही दोष पैदा हो जाते हैं। वास्तविक व्यवहार में, एक सदस्य प्रणाली किसी शासन की, अपने बहुमत की सहायता से जहाँ यह अनुचित रूप से प्राप्त हुआ है, कार्य करने की शक्ति को प्रभावपूर्ण ढंग से सीमित कर देती है। सन् १९२४ में अनुदार दल की सरकार में यह शक्ति थी कि वह हाउस ऑव लॉर्ड्स का सुधार तथा संरक्षण प्रशुल्क की सृष्टि सकती थी। अनुदार दल के समर्थक इन दोनों ही बातों को बडी उत्सुकतापूर्वक चाहते थे। पर वह दल यह दोनों ही काम नहीं कर सका क्योंकि जिस प्रकार का उसका बहुमत था, वह उसे इतनी आध्यात्मिक शक्ति नहीं प्रदान करता था कि ये दोनों बातें कर सके—उसे आगामी आम निर्वाचन के परिणाम का भय बना हुआ था। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समाज के किसी अंग की इच्छा या विचार की शक्ति का पता आम चुनाव के समय पड़े हुए वोटों की संख्या से ही नहीं मालूम होता। कानून बनाने की वास्तविक रीति में जो कारक इसकी सत्ता का निर्माण करते हैं, वे इतने अधिक और इतने सूक्ष्म है कि वर्तमान प्रथा के आलोचक उनको स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं। इस बात पर भी जोर

देना सही होगा कि जो सरकार अपने वास्तविक अधिकार की स्पष्ट सीमा का उल्लंघन करती है, जो अपने बहुमत का दुरुपयोग करती है, उसको आगामी आम चुनाव में इसका दण्ड भोगना पड़ेगा। यही नहीं उसके बाद जो सरकार स्थान ग्रहण करेगी, वह उन नियमों में संशोधन भी कर देगी।

विधान सभा की सदस्यता के विषय में जो सीमायें हों, वे समूचे नागरिक वर्ग के लिये समान रूप से लागू होनी चाहियें। ये सीमाएँ साधारणतः जितनी कम हों उतना ही अच्छा है। पर यह असम्भव नहीं है कि हम इस योग्यता के सम्बन्ध में अधिक कड़ाई से परीक्षा करें। अधुना आयु की योग्यता सन्तुष्ट करने पर और किसी योग्यता की आवश्यकता नहीं रहती।

इसका अर्थ यह हुआ कि व्यवहार में सम्पत्ति, जन्म, किसी स्वयं संगठित शक्तिशाली संस्था से सम्बन्ध जैसे ग्रेट ब्रिटेन के धनिकों का संघ या किसी व्यवसाय की सदस्यता जैसे वकील जो विधान सभाओं की सदस्यता के लिये विशेष रूप से योग्य है, ऐसे विशेष अवसर प्रदान करती है जो हरेक नागरिक को प्राप्त नहीं होते। मेरे विचार म, यह तर्क युक्तिसंगत है कि जो सदस्यता चाहता है वह इस बात का सबूत दे कि उसे उस प्रकार के काम का अनुभव है जैसा कि विधान सभा में होता है। उदाहरण के लिये यदि चुनाव के पहले यह जरूरी समझा जाय कि उम्मीदवार किसी म्युनिसिपल कौंसिल का सदस्य रह चुका हो—या वैसे ही किसी संस्था की सदस्यता कर चुका हो, तो सदस्यों की योग्यता में काफी सुधार हो जाय। यह भी जरूरी है कि सदस्यों को वेतन मिले—अन्यथा गरीब आदमी तो कभी चुने जाने की आशा ही नहीं कर सकता और केवल धनी व्यक्ति ही विधान सभा के कार्य में पूरा समय लगा सकेंगे।

आम तौर पर, विधान सभा का एक ही सदन होना चाहिये।

जहाँ भी कहीं, एकात्मक राज्य में, दो सदनों वाली प्रथा है, वहाँ की दशा देखने से पता चलेगा कि इंगलैण्ड के हाउस आफ लार्ड्स की तरह, कुछ विशेष हितों (स्वार्थों) का प्राबल्य हो जाता है। सिद्धान्त रूप से, दो सदन की जरूरत ही समझ में नहीं आती। इस विषय में सीये[1] ने कहा है कि दूसरा सदन यदि पहले से सहमत है तो उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, यदि असहमत है तो आपत्तिजनक है। दूसरे सदन के पक्ष में विशेष हितों के आधिपत्य के अलावा दो और बातें कहीं जाती हैं। कहा जाता है कि यह आवश्यक है कि पहले सदन के बिना ठीक से सोचे हुए तथा जल्दबाजी में बनाये कानूनों को फिर से दुहराया जाय तथा सरकार के प्रस्तावित कार्यों की उपयुक्त विशेषता के साथ जाँच या परख कर ली जाय। पर इससे दो नये सवाल पैदा होते हैं: (१) इस दूसरे सदन की रचना कैसी हो, (२) इसके क्या कार्य तथा अधिकार हों। यहाँ पर यह भी कह दिया जाय कि संघ राज्यों में भी, दो सदन वाली प्रणाली में, इन दो सदनों में से कोई एक अधिक महत्व प्राप्त कर लेता है, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका में सीनेट।

पहले हम इस दूसरे सदन की रचना के सम्बन्ध में विचार करें। एक पूर्णतः मनोनीत उपरि-सदन को जैसे हाउस ऑव लॉर्ड्स या कैने-डियन सीनेट, सम्भवतः यह अधिकार नहीं हो सकता, कम से कम प्रजा-तंत्रीय राज्य में, कि वह निर्वाचित सदन के संकल्प का उपाव्हान करे। इसकी सदस्यता, जब कभी इसमें स्थान रिक्त होंगे, उनकी इच्छा पर निर्भर करेगी जिसको उस समय मनोनीत करने का अधिकार है। एक निर्वाचित उपरि-सदन की स्थिति शायद ही इससे अच्छी हो। यदि वह पहले सदन के साथ ही, उन्हीं मतदाताओं द्वारा चुना जाता है तो पहले सदन का ही प्रतिबिम्ब हो जायगा। यदि उसका चुनाव

[1] Sieyes

भिन्न समय पर, भिन्न निर्वाचकों द्वारा होता है तो वह तत्कालीन सरकार के काम में अड़ंगा लगायेगा और जिस अंश तक उसके लिये मताधिकार सीमित होगा उतना ही अधिक वह सीमित स्वार्थों की रक्षा के भार से दबा रहेगा, जैसा कि फ्रांस की सिनेट है। एक यह भी प्रस्ताव है कि क्षेत्रीय आधार पर निर्वाचन या मनोनयन कोई भी संतोषजनक नहीं होता। अतएव दूसरी सभा का आधार व्यवसायिक हित होने चाहिये। पर, भिन्न पेशों को समानुपातिक वजन देने का कोई तरीका मालूम नहीं है। उदाहरण के लिये यदि इंजीनियरिंग के पेशों से एक आदमी चुना गया तो उसके विचार सदन के अत्यधिक निर्णयों से कोई सम्बन्ध नहीं रक्खेंगे। संक्षेप में अपने निर्णयों को सुसम्बंधित करने के लिये, दूसरे सदन का चुनाव दलबन्दी के आधार पर करना होगा, और जब ऐसा किया जायगा तो व्यवसायिक प्रतिनिधित्व का उद्देश्य ही पूरा न होगा।

इस दूसरे सदन का काम और अधिकार तय करना सरल बात नहीं है। इस तर्क को बहुत गुरुता देना कठिन है कि नियम बनाने के कार्य में विलम्ब के विचार से दूसरा सदन आवश्यक है। क्योंकि कोई भी सरकार व्यापकरूपेण लागू होने वाला ऐसा कोई नियय नहीं बनाती जिसका उद्देश्य या सार सर्वसाधारण के सामने विचार के लिए नही आ जाता। और, दूसरे यदि अधिक समय बीत जाता है तो निचले सदन का काम और परिश्रम नष्ट हो जाता है। अगर हम यह ध्यान रखें कि ग्रेट ब्रिटेन में निर्वाचन प्रणाली में सुधार, आयरिश होम रूल (स्वाधीनता) या राष्ट्रीय शिक्षा ऐसे महान नियमों को विधान में सम्मिलित होने में कितना समय लगा है तो हमारी यह इच्छा होगी कि ऐसे नियमों को जल्दी लागू करने का उपाय होना चाहिए न कि देर करने का। इस विचार में भी कोई सार नहीं है कि नियमों की विशेषरूपेण पुनरावृत्ति करने के लिए एक दूसरे सदन की

आवश्यकता है। यह तो प्रारूपण कार्य है जिसके लिए एक दूसरा सदन नहीं, इस कला में प्रवीण विशेषज्ञों की छोटी सी समिति चाहिए। अधिकार के विषय में तो यही कहा जा सकता है कि दूसरे सदन को पहले के समान तब तक अधिकार नहीं हो सकता जब तक वह उसी की तरह से न चुना जाय। यदि उसका अधिकार कम किया जाय तो तुरंत सवाल उठेगा कि उसकी रचना कैसी हो, मैंने यह दिखला दिया है कि इसके सम्बन्ध में सन्तोषजनक हल नहीं निकल सकता। ऐसी स्थिति में तो प्रथम सदन को ही अपनी इच्छा, अपने संकल्प को लागू करने का अधिकार होगा।

संघ राज्य में दूसरे सदन की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ शब्द कह देना जरूरी है। दो कारणों से, उनके लिए वह जरूरी समझा जाता है: (१) संघ के अन्तर्गत हरेक इकाई का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, (२) संविधान द्वारा अधिकारों का जिस प्रकार वितरण किया गया है, उसको आक्रमंण से बचाना जरूरी है। पहला तर्क तो बेकार है क्योंकि हरेक इकाई (राज्य) संविधान द्वारा प्राप्त अधिकारों के अनु-सार अपनी सीमा में स्वयं शासन कर रही है। संविधान द्वारा प्राप्त अधिकारों को आक्रमण से बचाने के लिए यह जरूरी नहीं है कि दूसरा सदन हो। यह काम तो संविधान में ही ऐसा नियम बना देने से हो जाता है कि संघ के अंतर्गत इकाइयों अथवा राज्यों की समूची संख्या के काफी बड़े बहुमत की स्वीकृति के बिना संविधान में कोई संशोधन न हो। सयुक्त राज्य अमेरिका की सिनेट है के अनुभव के आधार पर जो इस प्रकार की प्रतिष्ठित संस्था है मेरी समझ में गम्भीरतापूर्वक यह नहीं कहा जा सकता है कि शासन के अत्यधिक केन्द्रीकरण के विरुद्ध उसके द्वारा प्राप्त संरक्षण का कोई विशेष मूल्य है। इस सम्बन्ध में ऑस्ट्रेलिया से यह उपदेश मिलता है कि ऐसी प्रणाली में समानता (पहले तथा दूसरे सदन में) न होते हुए भी

दूसरे सदन को समानता का कृत्रिम पद देने के कारण नियमों में उचित समय पर, आवश्यक परिवर्त्तन नहीं हो पाते।

हम यहाँ पर विधान संस्थाओं के संगठन के विस्तार में नहीं पड़ना चाहते। मैं इस स्थान पर केवल इतना ही कर सकता हूँ कि अनुभवों द्वारा निश्चित रूप से सिद्ध कतिपय सिद्धान्तों की ओर निर्देश मात्र-कर दूं। ब्रिटेन की ऐतिहासिक प्रणाली में, राजनैतिक कार्यकारिणी (शासन समिति) व्यस्थापक महासभा में बहुमत वाले दल की ही एक समिति के रूप में, उसकी अन्तर्निहित संस्था के रूप में, काम करती है। ऐतिहासिक परम्परा द्वारा अमेरिका में दोनों पृथक्-पृथक् हैं—और अमेरिकन प्रणाली से ब्रिटिश प्रणाली कहीं अधिक अपनाने योग्य है। ब्रिटिश प्रणाली में दोनों का एक दूसरे में मिला रहना सुसम्बद्ध योजना बनाने में सहायक होता है। यही नहीं, इससे दोनों की जिम्मेदारी बढ़ जाती है। इसके द्वारा मुख्यत: विधान सभा के द्वारा ही—और ऐसा होना भी चाहिए—शासन के जिम्मेदार कार्यों के योग्य व्यक्ति चुने जाते हैं। दूसरे, यह जरूरी है कि व्यवस्थापन के इन दो कामों में अन्तर होना चाहिए। सिद्धान्त पर अलग विचार-विमर्ष हो और विस्तार की बातों पर अलग से। पहला काम समूची विधान सभा को करना चाहिए। दूसरा कार्य सदस्यों की ऐसी छोटी समितियों को करना चाहिए जो वर्त्तमान ब्रिटिश हाउस आफ कॉमंस के आदर्श पर न होकर इङ्गलैण्ड की अन्य अधीन सभाओं जैसे लन्दन काँउटी कौंसिल की समितियों के ढंग पर बनी हो। इसका मतलब यह हुआ कि यह भी वांछनीय है कि विधान सभा तथा प्रशासन की प्रणाली में घनिष्ट सम्पर्क हो। इसी उद्देश्य से, राज्य के हर विभाग से समन्वित विधान सभा के सदस्यों की एक कमेटी भी हो जो सलाहकार समिति के रूप में हो, और उसे यह अधिकार हो कि हर प्रकार के प्रस्तावित नियमों पर उसकी सलाह प्राप्त की जाय, प्रत्यायुक्त

विधान के कर्मकरण पर अपना विवरण दे, और अपने विभाग की समस्याओं पर आवश्यकतानुसार जाँच-पड़ताल करे। यह जरूरी है कि अपने विभाग की नीति के सम्बन्ध में जिम्मेदारी उसके मंत्री की होगी, पर अनुभव द्वारा, उसके काम में और विधान सभा में अधिक घनिष्ट सम्बन्ध की आवश्यकता सिद्ध हो चुकी है। अन्यथा, विधान सभा कभी-कभी भले ही उबल पड़े, पर आम तौर पर वह कार्यकारिणी की आज्ञाओं के पंजीयन की एक संस्था मात्र रह जाती है।

मैंने ऊपर यह विचार प्रकट किया है कि विधान सभा के जीवन की अवधि पाँच वर्ष होना उचित होगा। पर, संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह, उसके जीवन की अवधि को एकदम निश्चित कर देना अवांछ-नीय है। ऐसा भी अवसर आता है जब जन साधारण की सम्मति जानना आवश्यक होता है। यकायक, ऐसी कोई समस्या सामने आ सकती है जो एकदम नयी हो और राष्ट्र के जीवन के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हो। ऐसे अवसर पर, या जब सरकार विधान सभा में हार जाने पर यह महसूस करती हो कि वह जनता की वास्तविक इच्छा के सम्पर्क में नहीं है, यह जरूरी होता है कि विधान सभा भंग की जा सके। पर. उसे भंग करने की शक्ति किसके हाथ में हो? मेरी समझ में ऐसी शक्ति का अधिकारी मंत्रिमण्डल से अच्छा दूसरा कोई नहीं। यह मंत्रिमण्डल ही (मंत्रि-परिषद) नियमों की रचना में आवश्यक संकल्प शक्ति प्रदान करता है। उसके ही संकल्प से नियमों का प्रादु-र्भाव होता है। उसकी नीति ही विवाद का मुख्य विषय होती है। यदि सभा को भंग करने की शक्ति राज्य के औपचारिक प्रधान के हाथ में होगी तो उसके उपयोग के कारण उसकी तटस्थता के विषय में ही गम्भीर समस्या पैदा हो जायगी। स्वत: विधान सभा में यह अधिकार इसलिए नहीं हो सकता कि अपने को ही भंग करने की सम्मति देने की अबुद्धिमानी कौन करेगा। यदि इस अधिकार का ना-समझदारी के साथ प्रयोग होगा तो निर्वाचक नापसन्द करेगा। जो

लोग इसका बुद्धिमानी के साथ प्रयोग नहीं करेंगे, वे कुछ समय में अपने ही दल के समर्थकों द्वारा, अधिकार-च्युत कर दिये जाँयगे। कार्य-कारिणी के हाथों में यदि सभा को यकायक भंग करने का अधिकार होगा तो इससे एक लाभ यह भी होगा कि वह अपने समर्थकों तथा विरोधियों दोनों को ही, अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन न होने देगा। ऐसे अधिकार में एक ऐसा नाटकीय गुण होता है कि निर्वाचिक विधान सभा के कार्यों में निरन्तर रुचि लेता रहता है। इसी दृष्टि-कोण से यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है कि विधान सभा तभी सबसे अच्छा काम कर सकती है जब उसमें सरकारी पक्ष का बहुमत इतना काफी बड़ा होता है कि वह समुचित कार्यक्रम को पूरा कर सके, पर इतना अधिक बड़ा नहीं होता कि उसे अत्यधिक अधिकार मिल जावे। राजनीति में जन साधारण तभी बड़ी तीव्र रुचि लेता है जब राज्य की सरकार, विधान सभा में पराजय की सम्भावना की छाया में काम करती चलती है।

मैंने यह समझा दिया है कि आज के राज्य में रचनात्मक रूप में काम करने तथा होने के लिए अधिकार का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। व्यवहारिक तौर पर, विधान सभा द्वारा हो राज्य के वैध निर्देशों की रचना होनी चाहिए; पर उसके सफल कार्य-संचालन के लिए यह अभीष्ट है कि उसके बहुत से अधिकार अन्य अधीन संस्थाओं को सौंप दिये जायं। एसा तीन प्रकार से हो सकता है: (१) ऐसे सभी विषय जो भौगोलिक-दृष्टि से विचारणीय हैं, जैसे स्थानीय यातायात, वे सब स्थानीय निर्वाचित संस्थाओं के जिम्मे कर दिये जायं जिनके नियंत्रण में विशेष क्षेत्र हों। जो बातें इनके अधिकार के बाहर की खास तौर से निश्चित की जा चुकी हैं, उनको छोड़कर शेष बातों में इनको पूरा अधिकार होना चाहिए। एक ही उद्देश्य (समान कार्य) की पूर्ति के लिए इनको परस्पर मिलकर काम करने का अधि-

कार होना चाहिए। कुछ मामलों में, जैसे शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य ऐसे विषयों में, केन्द्रीय सरकार को इनसे सम्बन्ध बनाये रखने के लिए "सरकारी आर्थिक सहायता" तथा उन कार्यों के निरीक्षण का अधिकार होना चाहिए।

(२) केन्द्रीय विधान सभा द्वारा निर्धारित कम से कम शर्त्तों तथा हिदायतों के अन्तर्गत उद्योग-धंधों के लिए नियम बनाने की ऐसी अधीन सभायें बना देनी चाहिए, जो समुचित संरक्षणों की मर्यादा में रहकर ऐसे कायदे-कानून बनायें जो अनिवार्य्यत: लागू किए जा सकें। वकालत या डाक्टरी के पेशों पर नियंत्रण तथा अनुशासन रखने वाली संस्थाओं के समान, उद्योग-धंधों के लिए भी स्वायत्त-शासन की प्रथा का विकास करना चाहिए। (३) राज्य के अधीन ऐसी संस्थाओं में, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्राज्यीय वाणिज्य कमीशन या ग्रेट ब्रिटेन के बिजली कमीशन, ऐसे प्राद्यौगिक विषयों में व्यापक नियम बनाने के अधिकार का आविर्भाव होना चाहिए जो (अ) सरलतापूर्वक विधायी पर्यालोचन के विषय नहीं हो सकते हैं, तथा (ब) कार्य रूप में, स्पष्टत: किसी सीमित क्षेत्र के लिए ही फलदायक नहीं हैं। स्वभावत: इन तीनों बातों में, इनके कार्यों तथा निर्णयों की समीक्षा तथा पुनरावृत्ति का अधिकार विधान सभा में अन्तर्व्याप्त है पर यह आमतौर पर मानी हुई बात है कि अन्तर्व्याप्त अधिकार का जितना ही न्यूनतम तथा नाममात्र का रूप रहेगा, उतना ही अच्छा इन तीनों प्रथाओं का कार्य-संचालन तथा शासनहोगा।

III

राज्य की कार्यकारिणी के दो पहलू होते हैं—राजनैतिक और विभागीय। एक तरफ तो यह मुट्ठी भर राजनीतिज्ञों का एक गुट मात्र है जो विधान सभा की स्वीकृति के लिए किसी नीति की सिफारिश

करता है और मंजूरी मिल जाने पर उसे लागू करने का जिम्मेदार होता है, दूसरी तरफ राज्यनेताओं के निर्णयों को पूरा करने वाले अफसरों की बड़ी टोली होती है। स्पष्ट है कि कार्यकारिणी के ये दो पहलू अधिकार से अधिक व्यक्तियों की भिन्नता के कारण, एक दूसरे से पृथक प्रतीत होते हैं। क्योंकि लम्बा अनुभव प्राप्त कोई महत्व-पूर्ण अफसर नाम के लिए अपने राजनैतिक मुखिया के अधीन होते हुए भी अपने स्वामी पर काफी प्रभाव रखेगा और अपने विभाग से सम्बन्ध रखने वाले निश्चयों को पर्याप्त रूप से प्रभावित करेगा।

राज्य के राजनैतिक प्रधानों को साधारणतः मंत्रिमंडल कहते हैं। अच्छे शासन के लिए यह उचित और आवश्यक है कि इसके सदस्य विधान सभा के सदस्य हों। उसी से वे अधिकार ग्रहण करते हैं और उसके प्रति ही उनको उत्तरदायी होना चाहिए। साधारण तौर पर इसका मतलब यह हुआ कि एक ही दल के सदस्यों का मंत्रि-मण्डल होना चाहिए क्योंकि तभी उनके दृष्टिकोणों में वह एकता होगी जिससे सुसम्बद्ध नीति के अनुसार काम हो। मंत्रिमण्डल को छोटा होना चाहिए, यदि इसकी सदस्य संख्या एक दर्जन से अधिक हुई तो अनुभव यह बतलाता है कि उसके भीतर की आन्तरिक सम्बद्धता टूट जाती है। उसके ज्यादातर सदस्यों को शासन के महान कार्यों का जिम्मेदार होना चाहिए, जैसे विदेशी, आर्थिक, व्यवसायिक नीति आदि। पर इसके लिये, प्रत्यक्ष रूप से, परस्पर सम्बन्ध बनाये रखने तथा सञ्चालन के लिए एक ऐसे मस्तिष्क की आवश्यकता है जो किसी एक विभाग के लिए जिम्मेदार न होगा तथा उसके साथ कम से कम एक ऐसा मंत्री हो जिसे हम "बिना विभाग का मंत्री" कहते हैं, जो विषेश अवसर पर ही, काम में लाया जा सके।

संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह, मंत्रिमण्डल का प्रधान राज्य का भी वास्तविक प्रधान हो सकता है, या इङ्गलैण्ड या फ्रांस की तरह,

राज्य का प्रधान, मंत्रिमण्डल के प्रधान से भिन्न होता है और वह अधिकांशतः एक शोभा की वस्तु होता है जिसका राजनैतिक काम केवल इतना ही है कि शासन का काम निरंतर चलता रहे। इन दोनों प्रथाओं में कौन किससे यर्थाथतः रूप से अधिक महान है, यह नहीं कहा जा सकता। पर, दूसरी प्रथा में—यानी इङ्गलैण्ड या फ्रांस की प्रथा में, मंत्रिमण्डल का प्रधान होने के कारण प्रधान मंत्री को विधान सभा में भाग लेना आसान होता है। साधारणतः वह उस दल का प्रधान होता है जिसकी विधान सभा में प्रधानता होती है। उसके सहयोगियों को कैसे चुना जाता है ? अधिकांश देशों में, दल का प्रधान ही, सामूहिक रूप से राज्य के अतिकुशल सञ्चालन की क्षमता रखने वालों को अपना सहयोगी चुन लेता है। दूसरी तरफ, ऑस्ट्रेलिया में, मजदूर दल अपने प्रसंमिलन (कॉकस) द्वारा मंत्रिमण्डल को चुनता है।

इस सम्बन्ध में शंका का कोई कारण नहीं दीखता कि प्रधान मंत्री को ही अपना सहयोगी चुन लेना चाहिये। केवल चुन लिये जाने (निर्वाचन में) से ही किसी सरकारी विभाग के कार्य-सञ्चालन की आवश्यक योग्यता का आसानी से अनुमान नहीं होता। सहयोगी बन तथा एक साथ मिल कर काम कर सकने की योग्यता की समस्या हल करने के लिए भले-बुरे की काफी पहचान करनी पड़ेगी। मत देने की वर्त्तमान प्रथा से ऐसी पहचान नहीं हो सकती। यदि यह मान लिया जाय कि एक प्रधान मंत्री न केवल भूल ही करेगा अपितु वह व्यक्तिगत दृष्टिकोण को अत्यधिक महत्त्व देगा ही फिर भी, वह आस्ट्रेलिया की मजदूर पार्टी से याअपने अध्यक्ष-निर्वाचन में अमेरिकन जनता जितनी भूल कर सकती है, उससे कम ही करेगा। दूसरी प्रथा बहुत कुछ लाटरी डालने की तरह से है और इस विषय में बेग्हट ने सच लिखा है कि लॉटरी में कामयाब होना यह साबित नहीं करता

कि यह तरीका भी अच्छा है। प्रधान मंत्री द्वारा अपना सहयोगी चुनने के काम की जो मर्यादा तथा सीमा है, वही उचित चुनाव के पक्ष में संरक्षण है। हरेक दल में, नेता के समान ही योग्यता तथा महत्व के और लोग होते हैं। ऐसे ही लोगों को प्रधान मंत्री अपना सहयोगी चुनेगा और उनका सहयोग उसके द्वारा किए गए अन्य मनोनयनों की बुद्धिमत्ता पर निर्भर करेगा। यह मान लेने पर कि विधान सभा की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वे "उम्मीदवारी" में सफल हो चुके हैं, यह भी स्वीकार करना है कि मंत्रिमण्डल में भिन्न पदों के लिए चुने गए लोग ही वास्तव में सामन्यतः मनोनीत किये जाने योग्य थे।

कार्यकारिणी द्वारा शासन सञ्चालन को प्रणाली के अराजनैतिक पहलू से दूसरे प्रकार की समस्याऐं पैदा होती हैं। वास्तव में, आमतौर पर, तीन सवाल हैं। (१) ऐसी कार्यकारिणी को रचना और संगठन कैसे हैं? (२) इसके काम क्या हैं? (३) जिस जनता की वह सेवा करती है, उससे उसका क्या सम्बन्ध है? स्पष्ट है कि अगर हम दूसरे सवाल का जवाब दे दें तो पहला और तीसरे का भी जवाब हो जाता है। राज्य के सरकारी कर्मचारी अपने राजनैतिक प्रधानों की आज्ञा को कार्यान्वित करते हैं। मंत्री का काम है ऐसी नीति निर्धारित करना जो जन समूह की अधिक से अधिक माँग पूरी कर सके तथा विधान और विधान-सभा की स्वीकृति के बाद इसकी क्रिया को अधिकाधिक प्रभावी कर सके। यह भी जाहिर है कि आज के विशाल राज्यों में, मंत्री केवल सरसरी तौर पर ही यह काम देख सकता है। इसलिए जनता की माँग क्या है, विस्तारपूर्वक ऐसी कौन सी विधि बनायी जाय कि उनकी माँग पूरी की जा सके और किस प्रकार से वह विधि नित्यप्रति अमल में लायी जा रही है—इन सब बातों के लिए वह अपने कर्मचारियों पर निर्भर करता है। इसलिए, अधिकारारूढ़दल को

नीति चाहे कुछ भी हो, राज्य के काम इस ढंग से किए जाते हैं कि कम से कम संघर्ष पैदा हो।

इसीलिए, इसी लक्ष्य से, सरकारी कर्मचारी वर्ग को पूरी तरह से तटस्थ रहना चाहिए। वे जिस योग्यता तथा लगन से एक दल के अधिकार में आने पर उसकी सेवा करते हैं उसी प्रकार दूसरे दल की भी करें। उनको तटस्थ रखने के लिए यह जरूरी है कि इस बात की गारण्टी रहे कि अगर वे अपना काम करने में दक्ष हैं तो उनकी नौकरी स्थायी रहेगी। उनको अधिक से अधिक काम करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। पद में तरक्की करने की प्रथा द्वारा उनकी योग्यता को अधिकतर सीमा में विकसित होकर, मान तथा सम्मान प्राप्त करने का अवसर देना चाहिए ताकि वे उसी अनुमान में, जिम्मेदारी से लादे जायं। सरकारी कर्मचारी में इन गुणों को प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि उनका चुनाव ऐसे आयोग के हाथों हो जो सरकार से स्वतंत्र है। इस आयोग पर सरकार जितना कम प्रभाव रखती होगी उतनी ही राज्य के हित में होगा। आम तौर पर, कर्मचारियों के चुनाव में आयोग को ऐसी नीति बरतनी चाहिए कि किसी नियुक्ति में पक्षपात को कम से कम स्थान मिले। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्राविधिक नियुक्तियों के अतिरिक्त अन्य पदों में नियुक्ति संस्पर्धि परीक्षा द्वारा होनी चाहिए। एक बार सरकारी नौकरी में आ जाने के बाद, यदि कर्मचारी सुयोग्य तथा सद्व्यवहारी है तो उसको यह निश्चित रूप से मालूम हो जाना चाहिए कि जब तक उसके विश्राम लेने का समय न आ जाय, वह अपने पद पर रहेगा। काम से विश्राम लेने की उम्र काफी जल्द होनी चाहिए, काम की अवधि को छोटा रखना चाहिए ताकि विभागों के प्रधान कर्मचारी के पद पर ऐसे ताजे मस्तिष्क आते रहें जो अपनी पीढ़ी की नयी विचार धारा से सम्पर्क रखते हों।

यह भी जरूरी है कि सरकारी कर्मचारियों की श्रेणियाँ जितना अधिक सम्भव हो, लचकीली हो। कर्मचारी वर्ग से नौकरशाही हो जाने का भय रहता है। ऐसी नौकरशाही खड़ी करने का सबसे सीधा तरीका है काम करने की परिपाटी को तथा केवल अधिक अवधि तक काम करने पर उन्नति करने की प्रथा को एक दम ठोस बना देना। सरकारी कर्मचारियों के सम्बन्ध में एक भय हमेशा रहता है कि वे काम करने की परिपाटी को सुयोग्य रूप से कार्यसञ्चालन की विधि मान लें तथा प्राचीनता को अनुभव का प्रतीक समझ लें। प्रेरणा तथा प्रयोगात्मक बुद्धि से काम करने में उन्हें भय लगता है और वे यह सोचने लगते हैं कि सुसञ्चालित विभाग का प्रमाण यही है कि वह किसी प्रकार के आक्रमण से सुरक्षित है। नागरिक सेवा अर्थात् सरकारी कर्मचारी वर्ग की पहली आवश्यकता है उसको ऐसे भय से बचाना। इससे बचने के कोई स्पष्ट नियम नहीं हैं। बहुत कुछ तो मंत्रियों की बुद्धिमत्ता पर निर्भर करेगा, शायद इससे भी अधिक कर्मचारी-वृन्द की सामूहिक-अन्तर्भावना पर। इस बारे में खास बात यह होनी चाहिए कि योग्य तथा दोषदर्शी जनमत के वातावरण में सरकारी कर्मचारी वर्ग को काम करना चाहिये।

सरकारी कर्मचारियों को जनता की सेवा करनी है, इसलिए जनता द्वारा ही उनकी परीक्षा होनी चाहिए। यदि सेवा और परीक्षा को समुचित रूप से चलाना है तो शासन प्रणाली के साथ जनता का उचित सम्पर्क होना चाहिए। इसी उद्देश्य से, परामर्शदात्री समितियों की योजना प्रथम महत्व रखती है। जिस किसी विभाग का किसी सामाजिक हित से सम्बन्ध हो, जिन संस्थाओं द्वारा इन हितों का प्रतिपालन होता है, उन संस्थाओं का उस विभाग से परामर्श के लिए सम्बन्ध होना चाहिए। उदाहरण के लिए, शिक्षा विभाग को, अध्यापक चिकित्सक, मनोवैज्ञानिक तथा विद्यार्थियों के अभिभावकों की संगठित

संस्थाओं से लगातार सम्पर्क रखना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के उचित साधनों के अभाव में शासन में रचनात्मक प्रवृत्ति का अभाव ही केवल न होगा अपितु अपने कार्य के परिणामों के सम्बन्ध म वह तीक्ष्ण शीघ्र-बोधता भी न होगी जिससे इसकी योग्यता की असली परख की जा सके। जनता तथा सरकारी कर्मचारी वर्ग की परस्पर शिक्षा के लिए परामर्शदात्रि समिति से अच्छा दूसरा उपाय नहीं है। कर्मचारी वर्ग शासन की कला आग्रह द्वारा सीखता है। जनता यह पता लगाती रहती है कि कर्मचारी समुदाय, जो काम करने का दावा करता है, उसमें स्वाभाविक रूप से मिलाजुला प्रचार और लालसायें, उस दावे को कितना गलत साबित करती रहती हैं। वैधानिक शासन की सफलता का बहुत कुछ श्रेय इस प्रणाली को कार्यान्वित करने की सफलता पर निर्भर करता है।

इस विषय को समाप्त करने के पहले, संक्षेप में सरकारी कर्मचारियों की तटस्थता के कुछ परिणाम तथा राज्य के सेवक के रूप में उनकी स्थिति पर विचार कर लेना चाहिए। यदि कर्मचारी वर्ग की तटस्थता में जन समूह तथा सरकार दोनों का समान विश्वास बनाये रखना है तो मेरी समझ में यही उचित होगा कि जो कर्मचारी नीति निर्धारित करने में भाग लेते हैं, वे राजनैतिक जीवन से बिल्कुल अलग रहें। छोटे कर्मचारियों का अलग रहना जरूरी नहीं है। पर कोई भी मन्त्री, मान लीजिए की वह अनुदार दल का है, अपने विभाग के उस सचिव पर पूरा विश्वास न कर सकेगा जिसके विषय में उसे मालूम है कि वह अपना सांयकाल का समय उत्कट समाजवादी प्रचार में लगाया करता है। तर्क द्वारा, यही रुकावटें राजनैतिक अभ्यर्थियों के लिए लागू होती हैं। किसी उच्च कर्मचारी को यह आशा न करनी चाहिए कि वह सभा की सदस्यता के लिए खड़ा होगा तथा हारने पर पुनः अपनी नौकरी पर वापस आ जायगा। यहाँ पर जो बात

सरकारी कर्मचारियों के लिए कही गई हैं वह राज्य की सेना तथा पुलिस के लिए और भी अधिक तीव्रता के साथ लागू होती है। यदि उनमें राजनैतिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो गई तो राज्य के जानपद कर्मचारियों की आज्ञाओं के त्वरित तथा निष्प्रश्न पालन की प्रथा के लिए घातक सिद्ध होंगी, साधारणतः जो राज्य के कल्याण के लिए आवश्यक है। राज्य की धुरी ही ऐसी बात निर्भर करती है और ऐसे मामलों में यदि सेना तथा पुलिस किसी प्रकार का पक्षपात करने लगी तो उस राज्य में निरंकुश शासन की स्थापना में देर न लगेगी।

अवश्य इससे यह प्रश्न पैदा होता है कि सरकारी कर्मचारियों को परस्पर सम्पर्क स्थापित करने तथा संगठन करने की स्वाधीनता किस सीमा तक दी जावे। यह बड़ा टेढ़ा सवाल है और यहाँ पर मैं कुछ निष्कर्ष बतला दूँगा। राज्य के साथ पुलिस तथा सेना का जो संबंध है, उसके कारण यह जरूरी है कि कानूनन उसको हड़ताल करने का, काम बन्द करने का अधिकार न हो। पर इसके प्रतिकार-स्वरूप इनको अपने विभाग के स्वशासन (स्वयं संचालन) को पूरी तरह से उन्नत करने का अधिकार होना चाहिए, जिससे इनका हरेक अंग काम करने के अपने तरीकों तथा शर्तों का स्वयं फैसला कर सके और जब कभी सरकार तथा इनके बीच में मतभेद पैदा हो उस विषय का निर्णय इस प्रकार की स्वतंत्र पंचायत द्वारा हो, जैसा इंगलैण्ड में "इण्डस्ट्रियल कोर्ट" है। अन्य प्रकार के सरकारी कर्मचारियों के लिए ऐसा प्रतिबंध नहीं होना चाहिए और यदि ऐसा करने की चेष्टा की गई तो उसे चरितार्थ न किया जा सकेगा। अवश्य राज्य को यह अधिकार है कि वह कोई ऐसी योजना तथा संस्था बनाए जो इस बात पर जोर दे कि सरकार तथा सरकारी कर्मचारी-वर्ग में कोई विरोध पैदा होने पर कर्मचारी-वर्ग हड़ताल करने के पहले उसकी मध्यस्थता स्वीकार करें। यह भी बहुत कुछ सम्भव है कि ऐसी मध्यस्थता आमतौर पर

सफल होती है। पर मेरी समझ में, मालिक की हैसियत से राज्य को अधिकार का दावा करने का हक नहीं है। ऐसे मौकों पर, अन्य मालिकों की तरह उसका यही काम होना चाहिए कि कर्मचारियों को अपने कार्य के औचित्य के प्रति राजी कराकर, उनकी भक्ति प्राप्त करे। सरकारी कर्मचारियों को, अपनी अवस्था सुधारने के लिए उसी प्रकार के साधारण उपाय करने चाहिए जो कि श्रमिक संघ अपने सदस्यों की काम करने की दशा तथा स्थिति में सुधार के लिए करता है। मेरी समझ में नहीं आता कि छोटी श्रेणी के कर्मचारियों को, अन्य उद्योग-धंधों में लगे हुए उन्हीं के समान स्थिति वाले मजदूरों की तरह, जिस प्रकार वे उचित समझें, अपनी दशा सुधारने का अधिकार क्यों नहीं दिया जाता? जो क्लर्क या डॉकिये यह समझते हैं कि उनके साथ उचित व्यवहार नहीं हो रहा है, उनके लिए सरकारी विभाग में काम करने की शोभा ही पर्याप्त प्रतिकार नहीं हो सकती।

IV

मैंने यह समझा दिया कि राज्य के कार्य संचालन में न्यायालय की स्वतन्त्र सत्ता एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसको लक्ष्य में रखते हुए, तीन बातें जरूरी हैं: (१) न्यायाधीशों की नियुक्ति इस ढंग से हो कि उनके चुनाव में राजनैतिक प्रतिफल की कम से कम सम्भावना हो, (२) जो आदमी नियुक्त हो, यदि उसका चाल-चलन ठीक रहे तो उसका कार्य-काल स्थायी रूप से निश्चित तथा सुरक्षित रहे, (३) उसकी पदोन्नति केवल कानूनी लियाकत तथा ख्याति के कारण होनी चाहिए। पहली बात में, जनता या विधान सभा द्वारा चुनाव में जो रीति बरती जाती है वह रीति न्याय के पद का भार सम्भालने की योग्यता का निर्णय नहीं कर सकती। इसलिए इस सम्बन्ध में तीन ही उपाय सम्भव प्रतीत होते हैं। फ्रांस की तरह, न्याय-कार्य के लिए पदाधिकारी का चुनाव संस्पर्धि परीक्षा द्वारा हो सकता है और

उच्च पदों के लिए उन्नति योग्यता के आधार पर ही हो सकती है। इस प्रथा के समर्थन में काफी कहा जा सकता है। इसने फ्रांस को न्यायाधीशों की एक पण्डित-मण्डली प्रदान की है। इस मण्डली में अपने कार्य की प्रतिष्ठता तथा मर्यादा की भावना उच्चरूपेण उन्नत है। पर, प्रथा के सम्बन्ध में मेरा संदेह यही है कि न्यायाधीश में जिन गुणों का होना आवश्यक है, उनकी परख नियुक्ति की इस प्रणाली में नहीं हो सकती। और, ग्रेट-ब्रिटेन के न्यायाधीशों की तुलना में, फ्रेंच न्यायाधीशों का दृष्टिकोण समुचित रूप से कानूनी होता है। साधारणत: वह अच्छा न्यायाधीश होता है, पर जिस संकुचित संयम के भीतर उसका जीवन बीतता है, वह न्याय की बातों के अलावा और किसी अनुभव से दूर हो जाता है। दूसरी प्रथा इंगलैण्ड की है तथा संघ के लिए नियुक्तियों में संयुक्त राज्य अमेरिका की है, जहाँ छोटी तथा बड़ी अदालतों के लिए, कार्यकारिणी ही न्यायाधीशों को नियुक्त करती है। इस प्रणाली द्वारा हमको धुरंधर न्यायाधीश प्राप्त हुए हैं जैसे, मैंसफीन्ड तथा मार्शल, या जैसेल, ब्राउन और होम्स। पर पिछले सौ वर्षों की नियुक्तियों की सूची ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट मालूम होगा कि इन नियुक्तियों में राजनैतिक-विचार ने काफी भाग लिया है। मै एक तीसरी विधि बतलाता हूँ जिसमे न्यायाधीश-गण स्वयं भावी नियुक्तियों के लिए नामावली तैय्यार कर कार्यकारिणी के पास भेज दें और बहुत ही विशेष बात होने पर नामावली से बाहर के नाम लिए जायँ। इसी प्रकार, न्यायाधीश-वर्ग तरक्की के सम्बन्ध में भी स्वयं ही सिफारिशें करे। केवल इतना ध्यान रखा जावे कि केवल पाँच वर्ष से इस पद का काम करने वालों की तथा अपने पद से विश्राम लेने के लिए पाँच ही वर्ष या कम शेष रहने वालों की सिफारिश न की जाय। मेरी सम्मति में यह भी जरूरी है कि न्यायाधीशों को यह अधिकार दिया जावे कि

१५ वर्ष तक इस पद पर काम करने के बाद वे चाहें तो अपने कार्य से विश्राम ले सकते हैं। दूसरी बात यह भी जरूरी है कि ७० वर्ष की उम्र हो जाने पर न्यायाधीश को अनिवार्यतः विश्राम दे दिया जाय।

इस प्रणाली के लाभ प्रकट हैं। हमारी अदालतों में केवल ऐसे लोगों की नियुक्ति का भय न रहेगा जो शुरू जवानी से ही, एक संकुचित दायरे में, एक पेशे वाली जाति का सदस्य होने के कारण, विश्व की अन्य बातों से कोई सरोकार ही नहीं रखते। इसके द्वारा जिस सीमा तक एक वकील अपनी राजनैतिक सेवाओं के बदले में नियुक्ति तथा तरक्की पा सकता है, उसकी सम्भावना बहुत कम हो जाती है। यदि अदालतें स्वयं पहले एक नामावली तैयार कर कार्यकारिणी के पास विचार के लिए भेजती हैं तो इनका अर्थ यह होता है कि वे अपना दावा साबित करती हैं कि उस काम में उनकी दक्षता तथा अनुभव के कारण वे यह बता सकतीं है कि किस आदमी में न्याय करने की योग्यता है। कार्यकारिणी के इस नामावली में यदाकदा संशोधन के अधिकार द्वारा अदालतों के अनुचित पक्षपात का भय नहीं रहता। यहाँ पर यह भी कह दूं कि मैं, इङ्गलैण्ड की तरह, साधारण आदमी को उसकी छोटी-छोटी राजनैतिक सेवा के कारण छोटी अदालतों में विचारक बनाने की प्रणाली को अवांछनीय समझता हूँ। साधारण आदमी का काम "जूरी" बनना है, खास तौर से अपराध के मामलों में। उसे विचारक के काम में सहायक होना चाहिए। किन्तु जिन मामलो में विशेषज्ञों द्वारा वास्तविकता की छानबीन करना आवश्यक होता है, वहाँ साधारण जूरी की आवश्यकता भी सन्देहजनक हो जाती है। इस दशा में, जूरी प्रणाली रखने की सूरत में, भिन्न प्रकार के अनुभवी व्यक्तियों की विशेष सूची रखनी चाहिए जिनके विशेष अनुभव से विशेष महत्व के मामलों में सहायता प्राप्त की जा सके।

किसी भी सुव्यवस्थित राज्य में चार सिद्धान्तों द्वारा कानून का संचालन होगा। कानून की जिम्मेदारी शासकवर्ग तथा साधारण नागरिक के लिए समान होगी। उस राज्य में विधि का शासन सम्भव नहीं जहाँ पर कि अभिकर्ता के कार्यों के लिए प्रधान का उत्तरदायित्व न हो। संप्रभुत्व का मतलब यह नहीं है कि उसके नाम पर काम करने वाले गैर-जिम्मदार हो जायँ। और जहाँ पर कार्यकारिणी को प्रत्यायुक्त विधान बनाने का कुछ अधिकार प्राप्त है वहाँ पर ऐसे अधिकार की वैध सीमा का निर्णय सदैव साधारण अदालतों द्वारा होना चाहिए। यह भी नितान्त आवश्यक है कि अदालत की शरण में जाने की रीति इतनी मँहगी न हो कि गरीब नागरिक उन तक पहुंच ही न पाएं। बेकार के बहुत से मुकदमों के हो जाने में कोई हानि नहीं पर किसी भी व्यक्ति के मन में यह शंका न होनी चाहिए कि साधन के अभाव में वह अदालत की शरण नहीं ले सकता। राज्य को न्याय शासन की प्रथा में सुधार करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि न्याय शासन की गतिविधि की विशेषतः निरन्तर जाँच होती रहे, किन्तु यह भी महत्वपूर्ण है कि इनमें भाग लेने वाले, उनके कार्य-संचालन के सम्बन्ध में अपने अनुभवों को लिपिबद्ध करते रहें। आज के युग में यह अत्यावश्यक है कि न्यायशासन तथा नियमों में निरन्तर सुधार के लिए एक स्थायी कमीशन हो जिसमें न्यायाधीश, वकील तथा साधारण जन समान रूप से भाग लें।

V

मैंने ऊपर बराबर जनमत की महत्ता का वर्णन किया है। इस पर्यालोचन को समाप्त करने के पहले यह असम्भव है कि इसके मूल तत्व की कुछ समस्याओं पर संक्षेप में भी दृष्टिपात न किया जाय।

दो बातें स्पष्ट हैं। जनमत का मूल्य उन सूचनाओं की सत्यता पर निर्भर करेगा, जिसके आधार पर सार्वजनिक विचार बनते हैं। जिस अंश तक यह जनमत संगठित होगा, उसी के अनुसार उसका प्रभाव पड़ेगा। इस दूसरी बात को सर्वोच्च रूप में यह कह कर व्यक्त किया जा सकता है कि साधारण सार्वजनिक विचार ऐसी बिरली ही वस्तु होती है। होता यह है कि उपस्थित होने वाली समस्याओं पर अनेक धाराओं में सार्वजनिक विचार विकसित होते हैं और इन विचारों की शक्ति उनको प्रगट करने वाले संगठन तथा उनके ज्ञान पर निर्भर करती है।

आधुनिक समाज की सूचना की सत्यता की समस्या पर जो भी विचार करेगा, पहले तो उसकी विषमता से चकरा जायगा; दूसरे उसे यह भी मालूम होगा कि ऐसी सूचनाओं के संकलन तथा वितरण में वास्तविकता को सही ढंग से समझने-समझाने की कोई चेष्टा नहीं की जाती। यदि किसी समाचार का सार नीति को प्रभावित कर सकता है तो यह प्रचार का रूप धारण कर लेता है। असमान समाज में,हरेक संवाद को आर्थिक शक्ति रखने वालों के पक्ष में तोड़मरोड़ लिया जाता है। अधिकांश लोगों को सूचना या संवाद प्राप्त करने के लिए समाचार पत्रों पर निर्भर रहना पड़ता है। इन समाचार पत्रों की जीविका विज्ञापनों पर निर्भर करती है। समाचारपत्र निकालना इतनी मंहगी चीज है कि केवल धनी वर्ग ही इन्हें प्रकाशित कर सकता ह। किन्तु विज्ञापनों पर निर्भर करने के कारण वे ऐसे समाचार तथा आलोचनायें प्रकाशित करते हैं जो विज्ञापनदाता की विज्ञापित वस्तुओं के ग्राहकों को सन्तुष्ट कर सकें। अन्यथा जिन लोगों की प्रभावी-माँगों की शक्ति बहुत है उनके बीच इस पत्र का प्रचार न हो सकेगा। इसका परिणाम यह होता है कि उन समाचारों को रंग कर छापा जाता है जिनकी असली सूरत के प्रगट होने से धनी वर्ग को उलझन

हो सकती है। रूसी राज्यक्रान्ति, कोई बड़ी हड़ताल, राष्ट्रीयकरण के अंतर्गत उद्योग-धंधों की प्रगति—ऐसी घटनायें ऐसी बिगाड़ कर छापी जाती हैं ताकि उस समाचार-पत्र के पाठकों पर उनके विपक्ष में असर पड़े। उन्हें वास्तविकता का ज्ञान ऐसे दर्पण द्वारा होता है जिसमें किसी विशेष स्वार्थ पूर्ति के लिए, उनका चित्र काफी बिगाड़ कर दिया जाता है। जब तक किसी सरकारी नीति के फल के सम्बन्ध में मानव के स्वार्थों में असमानता होगी, इस नीति से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं को इस ढंग से चुना तथा तौला जायगा कि उनका असली अर्थ प्रकट न हो पावे। केवल समान अधिकार वाले समाज में सच्ची बातें छापने से लाभ होता है।

अन्त में, यह स्पष्ट है कि जनमत जिस अंश तक संगठित होगा, उतना ही शक्तिशाली होगा। संगठन करना आर्थिक शक्ति का ही मुख्य कार्य है। दरिद्र श्रमिक संघियों की एक बड़ी संस्था की तुलना में धनी खान-मालिकों की एक छोटी संस्था संगठित करना कहीं आसान है। इस दूसरी प्रकार की संस्था को एकतापूर्वक सुसम्बद्ध रूप से चलाना कहीं सरल है। इसके कार्य में भूलों का प्रभाव उतना तीव्र नहीं होता; सफलता का परिणाम अधिक प्रत्यक्ष होता है। आर्थिक शक्ति अपनी बुद्धि के अनुपात से कहीं अधिक ज्ञान पर अधिकार जमा लेती है। जितनी उसमें बुद्धि होती है, उससे कहीं अधिक ज्ञान वह खरीद लेती है। वह उचित अवसर की प्रतीक्षा कर सकती है। ऐसी प्रतीक्षा से उसकी साधारण जीवन की रूप-रेखा में विशेष परिवर्त्तन नहीं हो जाता। पर जिन लोगों में आर्थिक शक्ति नहीं है, उनके संगठन में ऐसी मजबूती नहीं होती। इसके मुख्य हथियार, जैसे हड़ताल, इतने मँहगे पड़ते हैं कि वह उनका उपयोग नहीं कर सकते। ज्ञान को खरीदने की शक्ति इनमें कहीं कम होती है। दूसरे ज्ञान (विद्या) रखने वालों की जो मनोवैज्ञानिक पृष्टभूमि होती है

वह ऐसे गरीबों के संगठनों के साथ मेल नहीं खाती। संक्षेप में, असमान समाज में जनमत केवल नैतिकता के नाम पर कोई दावा नहीं कर सकता। असमान शक्ति के कारण उनके हितों का, स्वार्थों का रूप इतना बिगड़ जाता ~~जाता~~ है कि उसके प्रति न्याय की भी सीमा बँध जाती है। जब तक समाज में आर्थिक शक्ति के वितरण में घोर असमानता रहेगी, नागरिकों के माँगों की समान रूप से पूर्ति करने वाली कोई सामाजिक व्यवस्था न हो सकेगी तथा उनके अधिकारों को समान रूप से स्वीकार करने का कोई गम्भीर प्रयत्न न होगा।

———

चतुर्थ अध्याय

राज्य और अंतर्राष्ट्रीय समुदाय

I

अभी तक हमने राज्य तथा उसके नागरिकों के सम्बन्ध की समस्याओं पर विचार किया है। पर, वास्तव में आजकल के संसार में, हरेक राज्य केवल अनेकों में से एक है, और स्यात् सबसे महत्वपूर्ण विषय तब पैदा होता है जब एक राज्य तथा उसके नागरिकों का दूसरे राज्य तथा उसके सदस्यों से सम्बन्ध होने के कारण सम्बन्ध की समस्यायें सामने आती हैं। जो सिद्धान्त ऊपर प्रतिपादित किए जा चुके हैं, उनके अनुसार एक राजय दूसरे राज्य को हुक्म नहीं दे सकता क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो हुक्म पाने वाले राज्य के वैध परमादेशों का वह रूप ही बदल जायगा जिनके ऊपर राज्य की आन्तरिक संप्रभुता निर्भर करती है।

और, यह जरूरी है कि राज्यों के परस्पर सम्बन्ध नियमित किए जांय। अन्तर्राष्ट्रीय विधान नियमों का वह समुच्चय है जिनके द्वारा राज्यों और उनकी प्रजाओं के बीच परस्पर सम्बन्ध निर्धारित होते हैं। समाज में रहने वाले नर-नारियों पर ये इसलिए लागू किए जाते हैं कि राज्य के आन्तरिक लक्षणों को छोड़कर यदि हम इसके बाह्य लक्षणों पर आते हैं, तो बिना उन नियमों के जो स्थिति पैदा होगी उसको केवल अराजकता ही कहा जा सकता है। यदि ये राजय अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अन्तर्गत न रहें तो वे जैसा चाहेंगे, वैसा करेंगे। और हॉब्स ऐसे बड़े-बड़े विचारक हो गए हैं जिन्होंने बिना सकोच के इसी निष्कष को स्वीकार किया है। अपने दृष्टिकोण से उन्होंने तर्क किया है कि

चूँकि आदमियों की कोई संस्था राज्य को आज्ञा देने का अधिकार नहीं रखती अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधान उस रूप में वैध नहीं हो सकता है जिस रूप में राष्ट्रीय विधान होता है। वे कहते हैं कि यदि राज्य के वैध परमादेशों को संप्रभु मानना है तो तार्किक रूप से, और कोई निर्देश उससे भी बड़ा नहीं हो सकता। इसका मतलब यह हुआ कि हरेक राज्य के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधान उसी सीमा तक वैध हैं जिस सीमा तक कि वह उनको मानने के लिए तय्यार हैं। अतएव, अन्तर्राष्ट्रीय विधान उस राज्य का तभी विधान होता है जब वह उसे ऐसा स्वीकार कर लेता है। स्वतः वह किसी को बाध्य करने की शक्ति नहीं रखता। यह अधिकार उसे तब प्राप्त होता है जब नियम प्रति नियम, हरेक राज्य वैध निर्देश के रूप में उसे स्वीकार कर लेता है।

ऐसे कठोर निष्कर्ष को स्वीकार करने के पहले हमको उसकी नींव की ही परीक्षा कर लेनी चाहिए। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर कुछ खास बातें पैदा होती हैं: (१) कोई नया राज्य, अपनी रचना के उपरान्त, अन्तर्राष्ट्रीय विधान के निश्चित नियमों में कुछ को ग्रहण करने तथा कुछ को छोड़ देने की क्षमता नहीं रखता। वह उनके बंधन को अपने ऊपर ऐसे स्वीकार कर लेता है मानों उसी ने रचना की हो। अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रस्म, संधियाँ, पंचायती समझौते, इत्यादि ने कुछ ऐसे सुनिश्चित सिद्धान्तों की रचना कर दी है कि राज्यों का साधारण परस्पर-सम्बन्ध उसी प्रकार सीमित तथा नियमित हो गया है जिस प्रकार इङ्गलैण्ड के कानून ने उसके नागरिकों के कार्यों को सीमित कर रखा है। (२) यूरोप में मध्ययुगीन ईसाई विश्व राज्य के क्षय के पश्चात् की ऐतिहासिक परिस्थिति में राज्य के प्रभुत्व का उदय और विकास हुआ है। आमतौर पर, यूरोप के 'सुधार युग' के पहले, राज्य का संकल्प संप्रभु नहीं था। उस समय यह स्वभावतः ईश्वर तथा प्रकृति के नियमों के अधीन तथा उनसे सीमित समझा जाता था। इन सिद्धान्तों

की उपेक्षा करके यदि राज्य कोई नियम बनाता था तो वह स्वतः प्रभाव-हीन समझा जाता था। आज हम एक ऐसे विश्व-राष्ट्र मण्डल की पुनः रचना कर रहे हैं, जिसका मध्ययुग के विचारक सपना देखा करते थे। अब हम देखते हैं कि आज जो वैज्ञानिक तथा आर्थिक परिवर्त्तन हो गये हैं उसने यह असम्भव कर दिया है कि राज्यों को, विश्व से सम्बन्ध रखने वाले मामलों में स्वतंत्र निर्णय करने दिया जाय। ऐसे निर्णयात्मक विषयों में, यदि इच्छानुसार निश्चय करने में कोई बंधन न हो, तो महायुद्ध हो सकता है। जिन कारणों से, राज्य के संकल्प ने अपने राज्य के भीतर की सभी संस्थाओं की इच्छाओं के ऊपर प्राथमिकता प्राप्त कर ली, उन्हीं कारणों से राज्यों के समाज में, किसी एक राज्य की इच्छा के ऊपर सार्वजनिक संकल्प को प्रधानता देना एक राजनैतिक आवश्यकता हो गई है। अर्थात् विश्व से सम्बन्ध रखने वाले आम मसलों में, ठीक जिस प्रकार व्यक्तिगत संकल्प के ऊपर राज्य द्वारा निर्धारित वैध निर्देश होता है, उसी प्रकार राज्य की इच्छा तथा संकल्प के ऊपर अंतर्राष्ट्रीय संकल्प होना चाहिए।

यही बात, दूसरे ढंग से, सबसे अच्छी तरह से कही जा सकती है। सन् १५०० और १७०० के बीच में, वर्त्तमान राज्य संप्रभुत्व के साथ इसलिए प्रकट हुए कि नागरिकों के जीवन में शान्ति तथा सुरक्षा की गारण्टी देने वाली और कोई दूसरी विधि न थी। उस समय के विचारकों ने जो कि राज्य के कामों का दार्शनिक आधार खोज रहे थे, उसमें यह विशिष्टता पायी कि उसने अपनी संकल्प-शक्ति को सभी बाहरी नियंत्रणों से मुक्त कर लिया था। इसलिए स्वभावतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सामाजिक संगठन की वह उत्कृष्ट या चरम इकाई थी। किन्तु, परिस्थितियाँ फिर बदल गई हैं। विशेषकर गत अर्द्ध-शताब्दि में विश्व में इतनी अन्तर्निर्भता आ गई है कि किसी राज्य की पूर्णतः असीमित इच्छा दूसरे राज्यों की शान्ति के

लिए घातक हो सकती है। मान लीजिए कि हम इङ्गलण्ड को अपनी सीमा, सरहद, शस्त्रीकरण 'चुंगी तथा मजदूरी की मर्यादा, तथा अन्य राज्यों के साथ अपने झगड़े का फैसला अपने मन से करने के लिए पूर्णत: स्वतन्त्र छोड़ दें तो इन सब बातों का फल होगा अन्तर्राष्ट्रीय विपदा। राज्यों की अंतर्निर्भरता के कारण यह आवश्यक है कि एक ऐसे विश्व-समुदाय तथा राज्यों के समाज का निर्माण हो जिसके अपने वैध निर्देश हों और इन निर्देशों के सामने अन्य किसी नियम का कोई स्थान न हो। संक्षेप में, आज हमारी जो परिस्थिति है, उसमें सबसे सम्बन्ध रखने वाले मामलों में विश्व पर लागू होने योग्य स्वयं-सिद्ध नियम बनाना उतना ही स्पष्टत: आवश्यक है जितना अपने ही राज्य के भीतर राज्य का वैधानिक अधिपति होना। एक शब्द में, वैधत: राज्य का कानून अंतर्राष्ट्रीय कानून के अधीन है।

इसलिए, यह संभव है कि इस अनुमान पर कानून का सिद्धान्त बनाया जाय कि उनका वास्तविक आधार राज्यों के समाज की इच्छा हो, और नवीन सभ्यता में, सब इच्छाओं या संकल्प के ऊपर वही इच्छा समझी जाय। ऐसे अनुमान से, राज्यों के समाज में, उनके साथ किसी एक राज्य का सम्बन्ध अधीनता का होगा। वह सम्बन्ध कुछ ऐसा ही होगा जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यूयार्क का स्थान है। नियम बनाने के सम्बन्ध में कुछ ऐसे विषय हैं जिनमें न्यूयार्क अपनी इच्छानुसार निश्चिय कर सकता है, और बहुत से विषय ऐसे हैं जिनमें वह संयुक्त राज्य अमेरिका के निश्चय को मानने के लिए बाध्य है। इस दृष्टि से राज्यों में संप्रभुता नहीं रह जाती। विश्व की जिन परिस्थितियों में वह फंसा हुआ है, उसके मंतव्य को उसे स्वीकार करना होगा। जिस प्रकार अपने राज्य में किसी नागरिक की बन्धन-रहित इच्छायें रखने के वैध अधिकार की माँग को स्वीकार करना असम्भव है, उसी प्रकार राज्य की यह माँग भी स्वीकार नहीं

की जा सकती कि वह बिना किसी बन्धन के जैसा चाहे वैसा निर्णय करे। आम जरूरियातों के कारण एक दूसरे के आधीन होना पड़ता है और जहाँ एक-दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है वहाँ ऐतिहासिक तथा पारिभाषिक दृष्टि से भी, संप्रभु-राज्य की सम्भावना ही नहीं हो सकती।

यदि राज्य अंतर्राष्ट्रीय विधान को तोड़ते हैं या राज्यों के समाज ने, विशेषकर व्यवस्थापक क्षेत्र में, कोई संतोषजनक संघ या संस्था को नहीं बना लिया है तो इन दो निस्सन्देह कारणों से हमारे दृष्टिकोण को कोई आघात नहीं पहुँचता। किसी राज्य द्वारा अंतर्राष्ट्रीय विधान के किसी नियम का उल्लंघन उतने ही महत्व की या बिना महत्व की बात हो सकती है जैसे किसी एक नागरिक द्वारा राज्य विधान के किसी नियम का उल्लंघन। विधान तब तक विधान रहेगा जब तक वह साधारणत: तथा स्वभावत: लागू किए जाने की क्षमता रखता है। हम यह मानते हैं कि राज्यों के समाज की संस्थायें अथवा संगठन अपने उद्देश्य की पूर्ति के योग्य नहीं हैं किन्तु, इसके दो मूल कारण हैं। पहले तो अंतर्राष्ट्रीय अन्तर-निर्भरता की बात काफी हाल में ही स्वीकार की गई है; नियमित रूप में इसकी योजना सन् १९१९ की वार्साई की संधि के पहले नहीं बनी थी। दूसरे, इस अन्तर्निर्भता को कार्य रूप में परिणत करने के लिए इनको संस्थाओं का रूप देने का जो भी प्रयास होता है, उसके विरोध में, अपने साम्राज्य के भग्नावशेष को अपने हाथ में बचाकर रखने का भगीरथ प्रयत्न करने के लिए संप्रभु राज्य की प्रेतच्छाया खड़ी हो जाती है। उदाहरणार्थ, राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ का इतिहास केवल अन्तर्राष्ट्रीय अन्तनिर्भरता के नए सिद्धान्त और उसके परिणाम तथा संप्रभुता के प्राचीन सिद्धान्त के बीच संघर्ष की कहानी मात्र हैं। संप्रभुता के सिद्धान्त के कारण ही राष्ट्र संघ के निर्णय केवल सर्व

सम्मत्ति से ही हो सकते थे, और इसी कारण संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा-परिषद् में महान शक्तियों का एक मत होना अनिवार्य है। अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरनिर्भरता के परिणामों को स्वीकार करने की आवश्यकता ऐसे नियमों में देखी जा सकती है जैसे राष्ट्र संघ के ऑप्शनल क्लॉज या जैनरल पैक्ट ऑव आर्बिट्रेशन तथा इनसे अधिक मूर्त्तरूप में, यद्यपि इनसे व्याप्तता में कम, पाश्चात्य सहयोग के लिए द्वितीय महायुद्ध से काल में की हुई अनेक सन्धियों में, जिनके फल-स्वरूप अटलाण्टिक समझौता बना। इन सबके द्वारा राज्य के संभुत्व के सिद्धान्त पर निश्चित तथा परिणामशील आक्रमण होता है। इन नियमों तथा संधियों को मानने वाले राज्य वास्तव में यह स्वीकार करते हैं कि वे अपनी इच्छानुसार, अपने मन के अनुसार कार्य नहीं कर सकते। इसी प्रकार, अस्वायत्त क्षेत्रों के लिए मैन्डेट्स तथा ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त, राष्ट्रसंघ के कुछ सदस्य राज्यों में राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों का संरक्षण और संयुक्त राष्ट्र संघ का सामान्य रूप से मानवीय अधिकारों की रक्षा करने का अधिकार, इस बात को प्रकट करते हैं कि राज्य संप्रभुता के दिन अब निश्चित्त रूप से समाप्त हो गए हैं। आधुनिक राज्यों में पारस्परिक सहयोग के लिए यह आवश्यक है कि उनको एक सामान्य अधिकारी के अधीन किया जाय। इस प्रकार को अधीनता का मंतव्य यही होगा कि उसे दूर करने तथा मिटाने की चेष्टा करने वाली सभी इच्छाओं के ऊपर, उपर्लिखित सामान्य अधिकारी के वैध निर्देशों की ही प्रधानता, तथाप्राथमिकता हो। वास्तव में संयुक्त राष्ट्र संघ के अधि-कार पत्र द्वारा प्रदत्त शक्तियों के कारण सुरक्षा-परिषद की सैद्धान्तिक दृष्टि से लगभग ऐसी ही स्थिति है।

इस परिस्थिति के सामने, कुछ प्रसिद्ध विचारकों ने प्राचीन दृष्टि-कोण से इसको दो प्रकार से सम्बद्धित करने का प्रयास किया है। एक

तरफ वे यह कहते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय विधान वास्तव में राष्ट्रीय विधान है क्योंकि उसे कार्य रूप में परिणत करने के लिए भिन्न भिन्न राज्यों की स्वीकृति आवश्यक है। दूसरी तरफ वे यह कहते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय विधान प्रभावी विधान है और एक सम्पूर्ण प्रणाली है। पृथक राज्यों के संकल्प से यह पूरी तरह से भिन्न है और उनसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु, यह दोनों ही सन्तोषजनक नहीं हैं। पहले के दो जवाब दिए जा सकते हैं। एक प्रमाण यह है कि राज्य अंतर्राष्ट्रीय विधान के नियमों को इसलिए नहीं अपनाते कि वे उनको पसन्द करते हैं बल्कि उनके सामने दूसरा चारा ही नही रहता। अतः स्वीकृति के सिद्धान्त को कायम रखने में कोई लाभ नहीं है क्योंकि यह केवल एक कल्पना है। फिर यह भी तय है कि कोई अंतर्राष्ट्रीय कानून तभी चरितार्थ होगा जब कि जिन पर यह लागू किए जाने वाला है, उनकी स्वीकृत हो—पर, यही बात राज्य के सभी कानूनों के लिए लागू होती है। न्याय शास्त्र की दृष्टि से, यदि अंतर्राष्ट्रीय विधान की वैधता इस बात पर निर्भर करती है कि वह कितनी सफलता के साथलागू किया जा सकता है, तो यह वैधता के ऐसे नियमों को सोचना है जिसकी राष्ट्रीय विधान के सम्बन्ध में नैयायिक कल्पना नहीं करता। उसी के स्वयं-सिद्ध नियमों के अनुसार वैधता को आँकने के लिए केवल इतना ही जानना जरूरी है कि नियम के बनाने वाले को ऐसा करने का अधिकार था या नहीं। बस, केवल इस अधिकार के अतिरिक्त यदि अन्य विचारों की भित्ति पर कोई अनुमान लगाये जाते हैं तो वह उन्हें अस्वीकार करने के लिए बाध्य होता है। उसे केवल इतना ही मालूम करना है कि नियम बनाने वाले को नियम बनाने का अधिकार था या नहीं। अंतर्राष्ट्रीय विधान को राष्ट्रीय विधान से पृथक् एक स्वतंत्र प्रणाली मान लेने से भी संतोषप्रद फल न होगा। क्योंकि, अंतर्राष्ट्रीय विधान का पूरा उद्देश्य ही यह है कि राज्य के भीतर रहने वाले नागरिकों के व्यवहारों की

व्याख्या करके, उनका नियमन करे। बिना राज्य की इच्छा या संकल्प को अपने अधीन किए वह इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर सकता। अतः ऐसी दशा में राज्य के संकल्प के ऊपर अंतर्राष्ट्रीय संकल्प का स्वतः प्रधान होना अनिवार्य है। इसी से हमको यह मानना पड़ता है कि राष्ट्रीय विधान उन्हीं स्वयं-सिद्ध सिद्धान्तों पर बना है जो अंतर्राष्ट्रीय विधान के लिए आवश्यक हैं।

एक अन्तिम तर्क पर भी विचार कर लिया जाय। यह कहा जाता है कि राज्य को एक वैध व्यवस्था मानना इसलिए आसान है कि राज्य की भावना होते ही कुछ एसे व्यक्तियों का समूह या उनकी संस्था सामने आ जाती है जो अपने पद के कारण. नागरिकों पर अपने वैध निर्देशों को लागू करन का अधिकार रखते हैं। राज्यों के समाज में इस प्रकार के अधिकार की स्पष्टता पाई नहीं जाती। यदि उसका कोई नियम भंग हो गया तो ऐसा कोई नहीं है जिसका नियम भंग करने पर दण्ड देने की प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व हो। इस आलोचना को घातक मान लेने के पहले यह जरूरी है कि हम इससे पैदा होने वाली बातों पर विचार कर लें। इसमें यह मान लिया जाता है कि राज्य के कानून उसके ऐसे अंग द्वारा बनाये जाते हैं जिसको आवश्यकता पड़ने पर दण्ड देने का अधिकार होता है। पर यह तो वास्तव में हॉब्स और ऑस्टिन ऐसों से प्राप्त संप्रभुत्व के प्राचीन सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना है और हमने ऊपर यह देख लिया हैं कि आधुनिक समाज की जटिल स्थिति में ऐसा सिद्धान्त उपयुक्त नहीं बैठता। आज हमको यह पता लगाने की कम चिन्ता है कि किस प्रधान शक्ति के संकल्पों के अनुसार नियम बनते हैं। हमको यह जानने की अधिक चिन्ता है कि ऐसा कौन सा उपयुक्त साधन तथा सूत्र है जिसके द्वारा समाज के जीवन के भिन्न विभागों के लिए आवश्यक नियम बनते हैं। हमारी वर्त्तमान रुचि राज्यों के कार्यों के विभाजन की ओर है, केन्द्रीयकरण

में नहीं। इतना ही नहीं, हम यह भी पेश कर सकते है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान के बहुत से नियम, एक राज्य के मामूली न्यायालय में साधारणतः तथा स्वाभाविक रूप से लागू किये जाते हैं। सन् १९१६ म "जमोरा" के मुकदमें में लॉर्ड पॉर्कर ने जो फैसला दिया था वह साबित करता है कि इस दिशा में वे किस हद तक जा सकते हैं। यह भी हम पेश कर सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय नियम केवल स्थाई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ही आजकल नहीं लागू होते बल्कि ऐसा ही, या इसी प्रकार का काम करने वाली अन्य सभी संस्थाओं के कार्यों की प्रकृति पर इन फैसलों का प्रभाव बढ़ता ही जाता है।

साथ ही, यह भी प्रकट ह कि राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ चाहे उनका संगठन कितना ही अधूरा हो. "दंड के विचार" के ही मूर्त्त रूप हैं। उनके इतिहास की गति इसी विचार को और अधिक सशक्त रूप देने की ओर रही है। यदि कोई संश्राव प्रारम्भ में इस दृष्टि से किया गया था कि लड़ाई छिड़ना रोक दे, उसमें विलम्ब करा दे, तथा इस बीच में सम्भव है कि कुछ ऐसा सोचने का मौका मिल जाय जिससे सफलतापूर्वक मध्यस्थता की जा सके, वही विचार उत्तरोत्तर ऐसी भावना का रूप ग्रहण कर लेता है जिसमें यह परिभाषा बन जाती है कि किसी पक्ष के किस प्रकार के कार्य को आक्रमणात्मक अथवा पराधिकार प्रवेश समझा जाय और जिस राज्य पर इसकी जिम्मेदार होगी उसे संघ के अन्य सदस्यों की शत्रुता मोल लेनी पड़ेगी। संयुक्त राष्ट्र संघ तथा राष्ट्र संघ के मध्य प्रमुख सैद्धान्तिक भेद इसी बात पर है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद को संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों ने अपनी ओर से पूर्ण कार्यकारिणी शक्ति प्रदान कर रखी है। ये सदस्य पहले से ही प्रतिज्ञाबद्ध हैं कि इसके निर्णयों का समर्थन करेंगे। राष्ट्र संघ के संश्राव में सामूहिक उत्तरदायित्व के रूप अल्पविकसित थे। संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकार पत्र में वे स्पष्ट तथा

निश्चित हो गए हैं। राष्ट्र संघ को परिषद एक मंत्रिपरिषद् के रूप में, कम से कम एक ऐसी समिति के रूप में जो कि एक अधिनियम-निर्मात्री समिति से बहुत कुछ साम्यता रखती हो, काम करता थी। संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् निश्चय ही सैद्धान्तिक रूप में ऐसी संस्था है जिसे वैध परमाधिकार प्राप्त हैं, चाहे व्यवहार में उसका यह अधिकार महान् शक्तियों के मध्य मतैक्य को आवश्यकता के कारण कितना ही क्यों न सीमित हो जाय। संघ की सभा का जनमत पर पर्याप्त प्रत्यक्ष प्रभाव था, और संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने भी यद्यपि सिद्धान्ततः संघ की सभा से उसी अनुपात में इसकी शक्तियाँ कम है जिस अनुपात में सुरक्षा परिषद् की शक्तियाँ संघ परिषद् से अधिक हैं) अपने क्षेत्र विस्तार में आश्चर्यजनक प्रगति दिखलाई है। राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की योजना दोषपूर्ण हो तथा इसका कुप्रयोग हुआ हो, तथापि इतना उनके विषय में कहा ही जा सकता हैं कि संसार के लोगों ने इनसे यह आशा की कि वे व्यक्तिगत राज्यों की अति को सीमित तथा नियंत्रित करेंगे। उनके वैज्ञानिक तथा सामाजिक सेवा के कार्य के सम्बन्ध में यह कहना न्यायसंगत है कि यदि ये कार्य नहीं हुए होते तो संसार आज और अधिक दरिद्र तथा असुन्दर स्थान होता, और यदि ये बन्द हो जायं तो इनका अविष्कार करना होगा।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के इसके जीवन काल-पर्यन्त सदस्य न रहने से और रूस के भो इसके अंतिम पाँच वर्षों के अतिरिक्त सदस्य न रहने से, राष्ट्र संघ को अत्यन्त हानि हुई। पर इसका अन्त न तो इसके कारण हुआ और न इसकी कार्यप्रणाली सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण, परन्तु क्योंकि इसके द्वारा आरोपित कर्त्तव्यों को इसके सदस्यों ने अपन संप्रभु अधिकारों के अधीन रखा। संयुक्त राष्ट्र संघ के संयुक्त राष्ट्र तथा रूस दोनों ही सदस्य हैं। परन्तु इसके सम्मुख भी संप्रभु

स्वातंत्र्य (जो कि रूप तथा तथ्य दोनों में ही अब केवल महान शक्तियों तक सीमित है,) और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के मध्य मूलभूत-विरोध उपस्थित है। एक ऐसी संस्था में जिसको कि अभी तक विश्व-शासन में रूपान्तरित करने का संकल्प नहीं है, शायद प्रतिषेधाधिकार का होना आवश्यक है। यह अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण होगा कि प्रतिषेधाधिकार के परिसीमन के लिए हम अधिकार की पुनावृत्ति की चेष्टा न कर इसके प्रयोग के सम्बन्ध में अभिसमयों की स्थापना पर निर्भर करें। परन्तु अनेक दोषों और कठिनाइयाँ के होने पर भी राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के महत्व पर तथा ऐसे संगठनों की आवश्यकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि राष्ट्र संघ की स्थापना राजनैतिक संस्थाओं की स्थापना के इतिहास में एक निर्णयात्मक पग था।

II

राष्ट्र संघ या संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रकार की संस्था के विकास के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत राज्यों की संप्रभुता का सतत नियंत्रण हो।

इसके सफल विकास के लिए यह आवश्यक है, कि जिन विषयों पर राज्य अपनी प्रेरणा के अनुसार नियम बनाने का अधिकार रखते हैं, उन विषयों के अधिकतम व्यापक क्षेत्रों में नियत्रंण रखने की अपनी शक्ति को वह उत्तरोतर अभिव्यक्त करती रहे। अंतर्राष्ट्रीय समाज में, सबसे सम्बन्ध रखने वाले मामलों में राज्यों का व्यवहार करने के तरीकों को बतलाने का अधिकार परिषद् का ही होगा। ऐसे कम से कम कुछ मामले तो स्पष्ट हैं। युद्ध घोषणा का अधिकार, सीमा का स्पष्टीकरण, अस्त्र-शस्त्र रखने की मर्यादा, प्रशुल्क तथा प्रवजन, पिछड़ी हुई जातियों का संरक्षण ये सब ऐसे मामले हैं जिन पर अधिक

समय के लिए व्यक्तिगत राज्यों का पूरा अधिकार नहीं रह सकता। इससे इसकी सत्यता कम नहीं हो जाती, यद्यपि महान शक्तियों के पारस्परिक विरोध के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ गतिहीन हो गया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण सर्व प्रथम उन दो महान समूहों में परिलक्षित हो रहा है, जिनका द्वितीय महायुद्ध से उद्भव हुआ है। उनमें से एक कॉमिनफार्म द्वारा नियंत्रित है तथा दूसरा अटलाण्टिक पैक्ट में संगठित है। इस प्रकार के संगठन इस विकास का केवल प्रारम्भ दिखलाते हैं न कि अन्त, जो कि निस्सन्देह अनेकों कठिनाइयों के पश्चात् हमें दिखलाई देगा।

अन्तर्राष्ट्रीय समाज पर उद्योग-धन्धों में विज्ञान के विकास के कारण अत्यन्त प्रभाव पड़ा है। क्रय शक्ति में असमान वितरण के कारण उत्पादन की शक्ति उपभोग-शक्ति के आगे बढ़ गई है। इसका फल यह हुआ कि आधुनिक उत्पादन-कला से उत्पत्ति करने वाले राज्य निर्यात के लिए विदेशी बाजार प्राप्त करने की भगीरथ प्रति-स्पर्द्धा में लगे हुए हैं और साथ ही इनको अपने देश के जीवन-निर्वाह स्तर को कम उन्नत देशों की प्रति-स्पर्द्धा से बचाना पड़ता है। जल्दी या देर में, ऐसी परिस्थिति का यह अनिवार्य परिणाम होने ही वाला है कि विश्व के कच्चे माल पर, बिक्री के तरीकों पर तथा मजदूरों की जीवन-मर्यादा पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण हो जाय। राष्ट्र-संघ अधिकाधिक युद्ध के आर्थिक कारणों का महत्व समझने लगा था और इसी कारण संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत एक आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् की स्थापना की गई। दो युद्धों के अन्तकाल में अन्तर्राष्ट्रीय अव्यवस्था का एक मुख्य कारण व्यक्तिगत राज्यों का अपनी मुद्रा-नीति निर्धारित करने का असीमित अधिकार भी था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने यदि विदेशों को मुद्रा उधार देने की नीति म सुदूर-व्यापी प्रतिबन्ध लगा दिए तो संसार भर में चीजों के मूल्य में घातक कमी हो सकती थी। पेरिस में स्वर्ण का असावधानी से एक-

त्रित करना दक्षिण अमेरिका में घोर बेकारी फैला सकता था। यह समझ लेना साधारण बुद्धि की बात है कि वर्ल्ड बैंक, इण्टरनैशनल मनीटेरी फण्ड में स्थापित "बैंक आफ इंटर नैशनल सेटलमेंट" एक एसी केन्द्रीय मुद्रानीति की योजना का श्रीगणेश है जिसके अधीन सब राज्य उसी प्रकार से होंगे जैसे इंगलैण्ड के सब ज्वाएण्ट बक, बैंक आफ़ इंगलेंण्ड के अधीन हैं।

इस विकास की एक दूसरी क्षितिज पर भी कल्पना की जा सकती है। अभी तक ऐतिहासिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, अन्तर्राष्ट्रीय विधान ने, निजी तौर पर उसके संरक्षण का पात्र होने का दावा करने वाले व्यक्तिगत स्वत्वों से बड़ी बुद्धिमानी के साथ बहुत ही कम सरोकार रखा है। यदि पराए राज्य विदेशी होने के नाते उन्हें कुछ पीड़ा पहुँचाते हैं तो उसकी दवा के लिए उनको अपने राज्य की ओर देखना चाहिए। यदि अपने ही राज्य में उसके प्रति अन्याय हुआ तो अन्तर्राष्ट्रीय विधान उसे "घरेलू मामला" कहकर अपने क्षेत्र से परे मानता है। यह कहा जाता है कि राज्य संप्रभु संस्था है, इसलिए इस दशा में, उसके निश्चयों के औचित्य पर प्रश्न करने का किसी को अधिकार नहीं है।

अस्तु, इन विषयों में यह असम्भव नहीं है कि हम एक नए युग के द्वार पर खड़े हैं। ऐसा कोई सैद्धान्तिक कारण नहीं कि समुचित कार्य-प्रणाली होने पर किसी पराये देश के अन्यायपूर्ण कार्य से पीड़ित कोई विदेशी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समान किसी संस्था से न्याय माँगने का अधिकार न रखता हो। हाँ, यह अवश्य है कि उसे अपना मुकदमा ही नहीं साबित करना है बल्कि यह भी सबूत देना होगा कि उसे पीड़ा पहुँचाने वाले, राज्य में प्रचलित सभी व्यवस्था के अनुसार वह अपने प्रति अन्याय का प्रतीकार न प्राप्त कर सका। फिर कोई कारण नहीं है कि यदि किसी नागरिक को, किसी राज्य में, वह अधिकार भोगने को

नहीं मिलता जिसके विषय में वह राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधान से प्रणबद्ध हो चुका है, तो वह उस दोषी राज्य को किसी अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के सामने अपने कार्य की सफाई देने के लिए खींच न ला सके। सन् १९१९ की शान्ति-व्यवस्था के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में ऐसी संधियाँ थीं जिनके कारण, जब तक राष्ट्रसंघ की शक्ति प्रभावपूर्ण रही, पूर्वी योरोप के अल्पसंख्यकों को राष्ट्र संघ के परिषद का संरक्षण प्राप्त था और वे पर्मानेन्ट कोर्ट तक जा सकते थे। संयुक्त राष्ट्र संघ का मानवीय अधिकारों का घोषणापत्र उसी सिद्धान्त का अधिक व्यापक प्रयोग है। यद्यपि इसकी शक्ति नैतिक है न कि वैध, तथापि यह निस्संदेह एक अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार-पत्र स्थापना की दिशा में प्रथम पग है। इसका यह अर्थ होगा कि व्यक्तियों को अपने राज्यों के विरुद्ध किसी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख अभियोग लाने का अधिकार होगा। मानवीय अधिकारों की इस अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन करने पर इन राज्यों को दण्डित होना पड़ेगा। परन्तु यह योजना जिसके द्वारा व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधान का विषय हो जाय तथा उसे अपने शासन के विरुद्ध अधिकार प्रवर्त्तित करने का अधिकार हो अभी तक शैशवावस्था में है। परन्तु जितना ही हम इस विचार को उन्नत करेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान व्यक्ति की रक्षा के लिए है, उतना ही वह विधान व्यक्तियों के द्वारा अधिक माननीय शक्ति प्राप्त करेगा। इसी प्रकार द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् एक अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड विधान का भी विकास हो रहा है। ऐक्सिस देशों के नागरिकों द्वारा किए हुए युद्ध अपराधों का अभियोग तथा दण्ड पहले से कहीं अधिक संगठित रूप में हुआ। इतिहास में पहले समय, एक संप्रभु राज्य के राजनैतिक नेताओं पर एक अभ्याक्रामी-युद्ध के लिए उत्तरदायी होने के कारण, न्यूरेम्बर्ग में अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण में अभियोग चलाया गया। यह एक नवीन न्यायिक प्रणाली थी। परन्तु जिस नैतिक निर्णय को इसने प्रवर्त्तित किया कि अभ्याक्रामी युद्ध-मानवता के

प्रति एक अपराध है, वह कम से कम एक पीढ़ी पुराना है । इस प्रकार न्यूरेम्बर्ग-अभियोग के द्वारा विधि के प्रयोग में विकास हुआ । यह उसी प्रकार का है जिस प्रकार का विकास कॉमन लॉ का हुआ ।

इस समीक्षा के उपलक्षणों पर विचार करना उचित होगा । एक शताब्दी पूर्व ऑस्टिन के लिए, विधि की परिभाषा के सम्बन्ध में राज्य को सर्वोच्च तथा संयुक्त संगठन मानना उतना ही स्वाभाविक था जितना कि मध्यकालीन विचारकों के लिए एक विश्व-साम्राज्य को । ऑस्टिन की दुनियाँ में, राज्य मानवी संस्थाओं के विकास की पराकाष्ठा था । प्रतिद्वन्दिता (एक राज्य की दूसरे के साथ) ही उसका नियम था । प्रतिद्वन्दिता के पीछे यह भाव था कि यदि हम प्रकृति की निस्सीम बुद्धिमता पर केवल भरोसा रखें तो वह स्वयं अन्ततः हरेक चीज को सही रास्ते पर ले आती है । यह भावना १८वीं शताब्दी के उदार-आशावादिता का फल थी । ऐडम स्मिथ ने भी जिस अदृश्य शक्ति का उल्लेख किया है, वह भी इसी आशावाद का फल है । यही प्रवृत्ति बेंथम के उस मौलिकवाद के पीछे है, जिसके अनुसार सभी सामाजिक बुराइयों को दूर करने का एक मात्र उपाय "संविदा की स्वतंत्रता" माना गया है । यही भावना हेगल को भी यह कहने के लिए प्रेरित कर सकी कि ऐतिहासिक विकास का उद्देश्य अधिकाधिक स्वतंत्रता की प्राप्ति है ।

हमारी दुनियाँ आज दूसरे तरह की है । आज हम राष्ट्रीय पार्थक्य के स्थान पर अंतर्राष्ट्रीय निर्भरता से प्रभावित होते हैं । सहयोग की आवश्यकता हमें आकर्षित करती है न कि स्पर्द्धा के गुण । हम यह सीख गए हैं, कि ऐरिस्टॉट्ल का विचार कि राज्य का जीवन आत्मनिर्भर होना चाहिए व्यवहार में सम्भव नहीं है, यदि राज्य को अन्य राज्यों के साथ शान्तिमय तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखना है । यह एक महान समाज का एक भाग मात्र है जिसकी आवश्यकताऐं इसके प्रत्येक पक्ष के साथ घनिष्ठतः सम्बन्धित हैं ।

अब हम यह देख रहे हैं कि जब तक मानव में आर्थिक बँटवारे की समान शक्ति न हो संविदा की स्वतंत्रता का उसके लिए कोई अर्थ नहीं होता। पुराने जमाने में जिस प्रकार अपने ही राज्य में कुछ व्यक्तियों का विरोधी रहना भयानक समझा जाता था उसी प्रकार आज संप्रभु राज्य की अलग सत्ता भयंकर समझी जाती है। हमको समाज के कार्यों के सम्बंध में ऐसा व्यवहारिक सिद्धान्त बना लेना चाहिए जिसमें शक्ति का संगठन या विभाजन इस रूप में हो कि जिन साधनों के द्वारा हमें बाध्य होकर काम करना या लेना पड़ता है, वे उसी सिद्धान्त के लक्ष्य की पूर्ति करने वाले हों। अब यह प्रकट हो गया है कि समाज के किसी एक अंग के हाथ में, बिना किसी बंधन के काम करने की पूर्ण शक्ति दे देना अच्छे जीवन के साथ मेल नहीं खाता। आज से तीन सौ वर्ष पूर्व जिस प्रकार रोमन कैथोलिक चर्च की संभुता समाप्त हो गयी, उसी प्रकार आज के संसार में राज्य की संप्रभुता, भी गत-प्रयोग हो गई है।

हम राज्यों के परस्पर सम्बन्ध को असंगठित रूप में नहीं रहने दे सकते, और ज्यों ही हम इनके संगठन की कल्पना करते हैं, यह स्पष्ट है कि राज्य की संप्रभुता का अर्थ अराजकता होगी। वह अपने आन्तरिक मामलों की देख रेख करे, पर उन विषयों में मनमानी करने का अधिकार उसे नहीं दिया जा सकता जिनमें दूसरे राज्यों का भी स्वार्थ है। आज की हमारी परिस्थिति में हम राजनीतिक समस्याओं को ऐसी स्वाभाविक दृष्टि से देखेंगे जिनमें राज्य महान समाज का एक प्रान्त मात्र है। अतः हमें इस पर बल देना पड़ेगा कि राज्य के नियम, उन सुदूर-व्यापी हितों के द्वारा नियमित हैं। हम यह कह सकते हैं कि ऐसे महान समाज को संगठित करना तथा उसके व्यापक क्षेत्र को नियंत्रण में रखने वाली उपयुक्त संस्था की रचना, बहुत ही बड़ा और कठिन कार्य है। किन्तु, इस प्रयास की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि हम इसी दृष्टि से, इस सम्बन्ध में बराबर विचार करते रहें।

हमारे चित्त में यह बात जितनी ही बैठती जायगी कि राज्य की संप्रभुता एक बीते हुए ऐतिहासिक युग की बात थी, उतना ही हम अपने नये वातावरण के उपयुक्त विधान-शास्त्र की रचना की बात सोचेंगे। प्राचीन जगत की धारणाओं के आधार पर नया संसार जीने की आशा नहीं कर सकता।

दूसरी तरफ, यह भी संभव है कि अंतर्राष्ट्रीय संगठन की हमारी चेष्टा भङ्ग हो जाय। जिन संस्थाओं ने अधिकार का अपहरण कर लिया है, वे आसानी से अपना अधिकार नहीं छोड़ेंगी-सर्वशक्तिशाली राज्य अपने अधिकारों के सीमाकरण के लिए प्रस्तुत नहीं होगा। हमारे सम्मुख जो युद्ध की अनेक सम्भावनाएँ हैं उनको हम ध्यान में रखें, जैसे जातीयविद्वेष, तथा धार्मिक द्रोह, आर्थिक संघर्ष, तथा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् उत्पन्न अमेरिका तथा रूस के मध्य विरोध, तो यह सोचना असंगत नहीं होगा कि शान्ति की सम्भावना अत्यन्त ही न्यून है। राष्ट्र संघ के संश्राव तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकार-पत्र में निस्त्रीकरण के आदर्श को जो महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है वह केवल दिखलावा मात्र है, व्यवहार में हम इसके लिए प्रस्तुत नहीं हैं। आज हम ऐसे शस्त्रों के भय से ग्रस्त हैं जैसे कि संसार ने आज तक नहीं जाने थे। हमने प्रन्यास के सिद्धान्त कि अत्यन्त प्रशंसा की परन्तु हम अपने मैन्डेट्स तथा ट्रस्ट-क्षेत्रों का प्राचीन उपनेशवाद के अनुसार शासन कर रहे हैं। बहुत सी ऐसी बातें हैं, जिन पर हम अपनी आशा आधारित कर सकते हैं जैसे भारत को स्वतंत्रता प्रदान करना, जिसके विषय में मैकौले ने सौ वर्ष पूर्व कहा था कि यह दिन इंगलैण्ड के इतिहास में सबसे महान दिन होगा। परन्तु अनेक ऐसी बातें हैं जिनके कारण हम यह नहीं कह सकते कि प्रगति अवश्यं-भावी है। जैसे रूस तथा पूर्वी यूरोप में साम्यवादी प्रयोग के नाम पर हुई कट्टरपंथी अन्धवादिता, तथा नृशंसता; जर्मनी और जापान के

भविष्य से सम्बन्धित अनेक प्रश्न जिनका समाधान नहीं हुआ है, तथा अमेरिका में नवीन विचारों का विरोध और उनका दमन-स्वतंत्रता तथा सुख तभी सम्भव हैं जब हम उनका निर्माण करें। स्वतंत्रता तथा सुख तभी सम्भव हैं जब हम शान्ति की स्थापना करें। हमें यह सोचना तथा सीखना होगा कि यह एक रचनात्मक प्रयोग है। इसमें उतना ही महान त्याग करना होगा तथा उतनी ही इसमें भय की आशंका है जितना कि किसी युद्ध में सम्भव है। इसके प्रति अपना अधिकार प्रमाणित करने के लिये हमें उसका मूल्य चुकाने के लिए कटिबद्ध रहना होगा।

ऐसा आश्वासन किसी को नहीं हो सकता कि हम सफल होंगे। लक्ष्य का मार्ग जानते हुए भी, हम मार्ग की कठिनाइयों से घबड़ाते हैं। ऐसे भी कम लोग नहीं हैं—और इनमें से अधिकांश बड़े शक्तिशाली लोग हैं जो जोरदार शब्दों में हमारे इस लक्ष्य को अस्वीकार कर रहे हैं। पर, लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए हमारे महान राज्य को विनम्र होना होगा, धनी वर्ग को त्याग करना पड़ेगा। बिना न्यायपूर्ण हुए हम स्वतंत्र नहीं रह सकते, और न्याय का मूल्य है समानता। ऐसे अनुमान के लिए कोई आन्तरिक कारण नहीं है कि जिनके पास शक्ति है तथा जो उसका उपयोग कर रहे हैं, वे जिन आदर्शों से सहमत नहीं हैं, उनके लिए अपनी शक्ति को छोड़ देंगे। यदि वे अपने अधिकार के लिए लड़ते हैं तो उनके लिए सफलता की सम्भावना तो है ही। यदि वे जीतते हैं, जैसा कि इटली तथा जर्मनी के हाल के इतिहास से प्रकट होता है तो राज्य के भीतर अत्याचार तथा बाहर अराजकता के पूरे लक्षण प्रकट हो जाते हैं। यदि वे हार जाते हैं, जो कि रूस के इतिहास से स्पष्ट है, तब भी कोई अन्य लक्षण नहीं दिखाई पड़ते। शान्ति की विजय शान्ति के प्रति तीव्र तथा व्यापक इच्छा पर निर्भर करती है। इस इच्छा की तीव्रता

तथा व्यापकता के लिये आवश्यक है कि शान्ति से उत्पन्न होने वाले फल के सम्बन्ध में सब का स्वार्थ और हित भी एक ही हो। न्याय-कार्य के लिये बलिदान हो जाने की भावना मानव-स्वभाव का अंग नहीं बन पाई है। अपना विचार भिन्न होने पर, हमने दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता नहीं सीखी है। हमारे आज के झगड़े धार्मिक युद्ध की तरह ही कटु होते हैं केवल मतों का तत्व बदल गया है।

हमारी ऐसी पीढ़ी को, जिसका पैर खाई के बहुत निकट है, अपने भविष्य के विषय में आशावादी होने का अधिकार नहीं है उसे-सन्मार्ग मालूम होने से ही यह साबित नहीं होता कि वह सन्मार्ग पर चलेगी ही। देखने में यह चीज चाहे कितनी विपरीत मालूम पड़े पर इसी में हमारी सबसे बड़ी आशा सन्निहित है। हमारे चारों ओर के भय इतने स्पष्ट और शीघ्र हैं कि हम नयी बातें ढूँढ़ने ओर उनके प्रयोग करने के लिये बाध्य हैं। बड़े दु:खान्त अनुभवों से हमने आधुनिक सभ्य स्वभाव की दुर्बलता को पहचाना है। स्यात् हमने यह भी जान लिया है कि इनकी शक्ति की परीक्षा पुन: लेने में क्या भय है। केवल इतना ही ज्ञान हो जाने से कि यदि कोई व्यापक संघर्ष फिर हुआ तो सभ्यता की प्रसादि अतीत की स्मृति मात्र भी न रह जायगी, हमारे चित्त की प्रवृत्ति में परिवर्त्तन हो जायगा और हम सत्य तथा तथा न्याय को कोरा, खोखला आदर्श मात्र ही न समझेंगे। अन्तत: सद् जीवन के प्रति सबका समान स्वार्थ हो सकता है, और उसकी प्राप्ति में जो कठिनाई हैं, उसी के द्वारा उसके सौन्दर्य की अनुभूति हो सकती है।